।। श्रीमते रामानुजाय नमः।।

वैदिक-वाणी

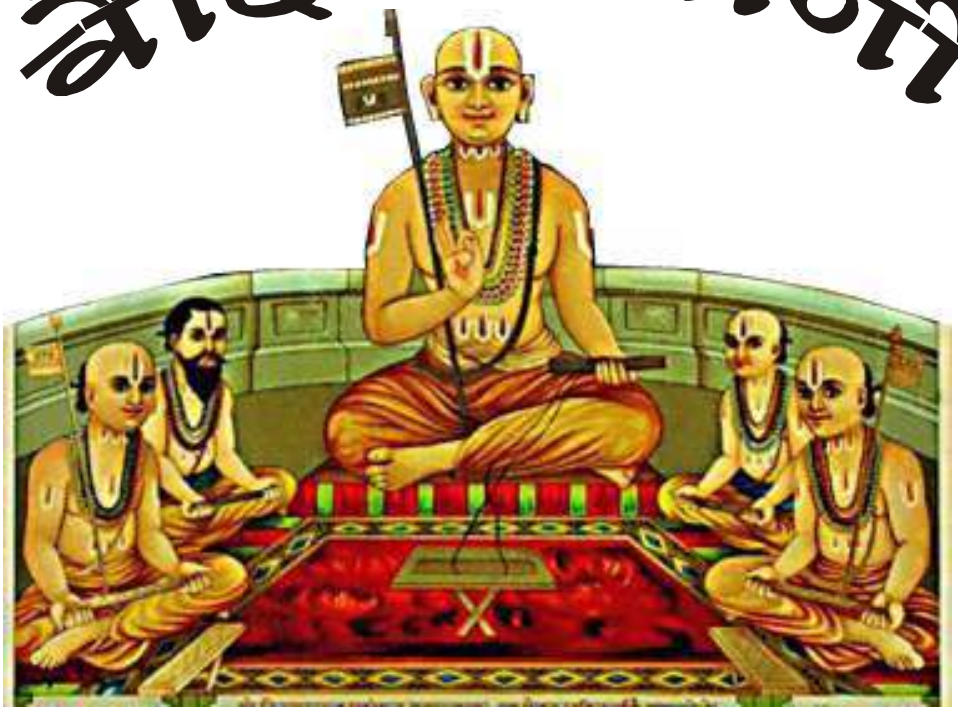

वर्ष- २६ अप्रैल- २०१४	श्री पराङ्कुश संस्कृत संस्कृति संरक्षा परिषद् हुलासगंज, जहानाबाद (बिहार)	अङ्क- ३ रामानुजाब्द ९९६ त्रैमासिक प्रकाशन

अपूर्वनानारसभावनिर्भरप्रबुद्धया मुग्धविदग्धलीलया ।
क्षणाणुवत् क्षिप्तपरादिकालया प्रहर्षयन्तं महिषीं महाभुजम् ।।

अर्थात् हे महाभुजासम्पन्न! आप अपने विभिन्न नव नव रसों तथा भावों से युक्त मनोहर चतुरतापूर्ण क्रीड़ा द्वारा, जो कल्पव्यापी सुदीर्घ काल को क्षणमात्र से भी छोटा बोध कराता है, अपनी महिषी को आनन्दित करते रहते हो ।।

विषयानुक्रमणिका

आश्रम परिवार की ओर से प्रकाशित

****

क्रम सं०	विषय	पृ०सं०
१.	वैदिक-वाणी—जल सदृश भगवान हैं	३
२.	दीर्घायु बनें	५
३.	शीलवान बनें	६
४.	अध्यात्म की ओर बढ़ने के लिए उपनिषद् पढ़ें	९
५.	तृष्णा निवृत्ति से सुख	१०
६.	गीतार्थ सङ्ग्रह	१२
७.	सरौती की प्राचीनता	१४
८.	सरौती ठाकुरवारी	१६
९.	व्रजभूमि की महिमा	१७
१०.	नामरूप व्याकरण श्रुति का भावार्थ	१९
११.	भगवान के गुणों की दिव्यता	२०
१२.	श्रीविष्णुसहस्रनाम के प्रारम्भ से ३५ नामों का विशद् भाष्य (हिन्दी में)	२२
१३.	दिव्य प्रश्न? अद्भुत उत्तर	३०
१४.	भगवान वृक्ष की आड़ से क्यों देखते थे?	३२
१५.	परम विशिष्ट भागवत-धर्म	३३
१६.	चन्दन की वाणी का प्रभाव	३५
१७.	औरङ्गाबाद के पाढ़ी यज्ञ का आखों देखा हाल	३७
१७.	व्रत-तालिका, विविधमुहूर्त्ता	३९, ४०

●

नियमावली

१. यह पत्रिका त्रैमासिक प्रकाशित होगी।

२. इस पत्रिका का वार्षिक चन्दा (अनुदान) ४० रुपये तथा आजीवन सदस्यता ५०१ रुपये मात्र हैं।

३. इस पत्रिका में भगवत् प्रेम सम्बन्धी, ज्ञान-भक्ति और प्रपत्ति के भावपूर्ण लेख या कवितायें प्रकाशित हो सकेगी।

४. किसी प्रकार का पत्र व्यवहार निम्नलिखित पते पर किया जा सकता है।

५. लेख आदि किसी भी प्रकार के संशोधन आदि का पूर्ण अधिकार सम्पादक के पास सुरक्षित होगा।

—सम्पादक

वैदिक-वाणी

जल सदृश भगवान हैं

अनन्तर दृष्टि वाले आलवार श्रीशठकोपसूरि ने भगवान के स्वभाव को जल के समान बताने में अनेक सारगर्भित उदाहरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है कि भगवान नीर के समान हैं, नीर कहते हैं–जल को। जल के समान भगवान का स्वभाव है। जिस प्रकार जल नीचे की ओर जाता है, उसी प्रकार भगवान उत्तम जाति, उत्तम आश्रम आदि का विचार नहीं करके जो दीन, हीन, अकिञ्चन तथा अपने में नीचता का अनुसन्धान करता हुआ उनसे प्रेम करता है उसी पर कृपा करते हैं। भगवान की कृपा रूप जल नीचानुसन्धान करने वाले को ही सींचता है। जो उत्तम जाति, उत्तम कुल तथा आश्रम आदि के अभिमान में भगवान से प्रेम नहीं करता है उस पर भगवान की कृपा नहीं होती है। नीच जाति में उत्पन्न शबरी, केवट आदि भक्त भगवत्कृपा रूप जल से सिञ्चित हुये। कौरव पाण्डवों में समझौता का प्रस्ताव लेकर भगवान श्रीकृष्ण दुर्योधन के पास गये। वह समझौता के लिये तैयार नहीं हुआ, भगवान लौटने लगे। दुर्योधन एवं भीष्म-पितामह ने श्रीकृष्ण को भोजन के लिये विशेष आग्रह किया। भगवान दुर्योधन में प्रेम का अभाव समझकर भोजन न कर सके। लौटते समय मार्ग में विदुरजी के घर में अन्न का भोग लगाये। दुर्योधन ने बाद में भगवान से पूछा कि आप मेरे यहाँ भोजन न कर शूद्र विदुर के अपवित्र अन्न क्यों भोग लगाये।

(१) भगवान की दृष्टि से विदुर के अन्नादि सब पवित्र हो गये थे। इसलिये भगवान ने कहा कि ***'विदुरान्नानि बुभुजे शुचीनि गुणवन्ति च'*** अर्थात् विदुर की भक्ति से पवित्र बने हुए सुमधुर अन्न का भोजन किया।

(२) हम चावल के बदले में गेहूँ, बाजरा, फल आदि दूसरे वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं; परन्तु जल के बदले में किसी दूसरी वस्तु को काम में नहीं लगा सकते; क्योंकि जल का प्रतिनिधित्व दूसरी वस्तु नहीं कर सकती। उसी प्रकार भगवान का कोई प्रतिनिधि नहीं होता, उनका काम दूसरा कोई नहीं कर सकता, भगवत्प्राप्ति का उत्तम साधन भगवान ही हैं। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदि भगवत्प्राप्ति के साधन तभी सफल होते हैं जब भगवान की कृपा होती है। इसलिये जो सच्चे प्रपन्न भगवद्भक्त हैं वे, उपायान्तरों को छोड़कर भगवान को ही पूर्ण उपाय मानते हैं।

(३) जैसे शीतल रहना जल का स्वभाव है। वह गरम करने पर ही गरम होता है। वैसे ही भगवान का स्वभाव भी शीतल है। वे चेतनों के विशेष अपराध देखने पर कभी रूष्ट हो जाते हैं। पुरुषसूक्त में ***'चन्द्रमा मनसो जातः'*** इस मन्त्र में भगवान के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुए हैं ऐसा कहा गया है। इसका कारण है कि भगवान का मन चन्द्रमा की भाँति शीतल है।

(४) गरम पानी को शीतल करने के लिए शीतल जल की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जीवों के अपराध से रूष्ट भगवान भी केवल अपनी कृपा से ही प्रसन्न होते हैं किसी दूसरे उपाय से नहीं। स्वामी यामुनाचार्य का वचन इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है। उन्होंने भगवान से कहा है कि स्तन पान करने वाला बालक के अपराध से रूष्ट होकर माता उसे अपने से दूर हटा देती है; परन्तु वह बालक दूसरी जगह न जाकर माँ के गोद में ही लौट आता है।

माँ उस पर प्रसन्न हो जाती है। उसी प्रकार हे प्रभो?

भूगत जल–जो साधारणतया नजर में नहीं आता, किन्तु भूमि खोदने पर दीख पड़ता है, (२) **आवरण जल**–जो शास्त्र के अनुसार इस ब्रह्माण्ड के बाहर बहता है (३) **क्षीरसागर**–जो ब्रह्माण के अन्दर है और ब्रह्मादि देवताओं को प्राप्त है, (४) वर्षाऋतु में बहने वाली नदियों का जल जो उस समय के लोगों के लिए सुलभ होता है और (५) वावड़ी, तालाब आदि का जल जो हमेशा सबों के काम में आने योग्य रहता है। इनके सदृश भगवान के भी ये पाँच स्वरूप हैं—(१) **अन्तर्यामी**—जो प्रत्येक मानव के हृदय में विराजते हुए केवल योगियों की नजर में आते हैं, न कि दूसरों को। (२) **परत्व**—जो संसार मण्डल के परे श्रीवैकुण्ठ दिव्यधाम में विराजमान है, (३) **व्यूह**—जो क्षीरसमुद्रादि कतिपय जगह विराजते हैं, (४) **रामकृष्णादि विभवावतार**—जो कि त्रेता द्वापरादि युगों में अयोध्या, मथुरा इत्यादि स्थलों में प्रकट हुए थे, और (५) **अर्चावतार**—जो श्रीरंगादि सभी क्षेत्रों में सर्वदा विराजमान हैं। अब इस अर्थ का वर्णन करने की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे पिपासित व्यक्ति के काम में बाबड़ी इत्यादिकों के सिवा दूसरी जगह वाला पानी सर्वदा काम में नहीं आ सकेता, इसी प्रकार सद्यः भगवान के दर्शन करने को उत्कण्ठित भक्त के काम में अर्चारूपी भगवान ही आ सकते हैं।

(७) जल का निजी स्वार्थ नहीं होता है। वह एकमात्र अपने को दूसरे के लिए समर्पित रखता है। उसी प्रकार भगवान नारायण जगत् में निजी स्वार्थ के लिए कुछ नहीं करते बल्कि भक्तों के हित के लिये ही उनके सारे कार्य होते हैं।

जैसे मेघ समुद्र का जल लेकर वर्षा करता है वह जल सबके लिए अत्यन्त पेय होता है। उसी प्रकार सन्तरूप मेघ शास्त्ररूप समुद्र से भगवत्स्वरूप का ज्ञान करता है। जिनका भजन करके मानव कष्ट से मुक्त होते हैं।

(८) जल किसी चीज में अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र द्वारा भी प्रवेश करके उसे आर्द्र कर देता है। उसी प्रकार भगवान की कृपा जीव के अल्प सुकृत को भी निमित्त मानकर उद्धार कर देती है।

(९) जैसे तीर्थ के जल का विशेष महत्व होता है। वैसे श्रीरङ्गम्, वेङ्कटाद्रि आदि दिव्य देशों में भगवान के स्वरूप का विशेष महत्त्व है। इसलिए भक्तगण दिव्य देशों में भगवद् दर्शन के लिये जाते हैं।

(१०) जैसे गरमी से संतप्त व्यक्ति जल पीकर एवं उससे स्नान करके अपने कष्ट को मिटाता है वैसे ही सांसारिक कष्टों से पीड़ित व्यक्ति मन, वचन और कर्म से श्रीभगवान के चरणों में प्रेम करके कष्ट को दूर करता है।

दीर्घायु बनें

जगत् में अगर किसी भी व्यक्ति को महान भय है तो मृत्यु से है। अल्पायु, मध्यायु और दीर्घायु तीन प्रकार की आयु होती है। ३० वर्ष तक अल्पायु ३३ से ७० तक मध्यायु और ७१ से १०० वर्ष तक दीर्घायु योग होता है। १०१ से १२० वर्ष तक परमायु माना गया है। ग्रह योग के अनुसार आयु निर्धारित होती है। पुण्य करने से आयु बढ़ती है और पाप कर्म से आयु क्षीण होती है। कोई भी व्यक्ति अल्पायु तथा मध्यायु को नहीं चाहता है दीर्घायु की चाह सबों की होती है। अपने साथ पूरे परिवार की भी दीर्घायु की कामना करता है; परन्तु हो नहीं पाता केवल कामना करने मात्र से कोई दीर्घायु नहीं हो सकता। दीर्घायु बनने के लिए त्रिकालदर्शी ऋषि मुनियों ने उपाय बतलाया है।

वह उपाय उदाहरण पूर्वक प्रस्तुत किया जा रहा है, मृकण्डु के पुत्र मार्कण्डेय भृगुजी के पौत्र थे। मार्कण्डेय को जन्म लेते ही एक ज्योतिषी ने यह कह दिया था कि बारहवाँ वर्ष पूर्ण होते ही इस बालक की मृत्यु हो जायेगी। यह सुनकर माता-पिता विशेष दुःखी हुए। उस बालक का नामकरण उपनयनादि सभी संस्कार समयानुकूल होते गये। मार्कण्डेय ने देखा कि मेरे माता-पिता बहुत दुःखी हैं। उसने माता से दुःखी होने का कारण पूछा-माता ने ज्योतिषी की कही हुई बातों को दुहरा दिया। मार्कण्डेय ने कहा कि आप माता-पिताजी दुःखी न हों। मैं अपने तपस्या द्वारा अपने मृत्यु को हटा दूँगा, ऐसा कहकर उस वन में चले गये जहाँ भृगु जी रहते थे। भृगु ने अपने पौत्र मार्कण्डेय से पूछा कि तेरा असमय में वन आने का कारण क्या है? मार्कण्डेय ने अपनी मृत्यु का समाचार बतलाया। महर्षि भृगु ने कहा कि भगवान नारायण के शरण में जाने से मानव दीर्घायु होता है। तुम तुङ्गभद्रा नदी के तटपर भद्रवट वृक्ष के नीचे विधिवत् भगवान नारायण का पूजन करो। ''ओं नमो भगवते वासुदेवाय'' इस मंत्र का जप करो और अपने हृदय कमल में शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए देवेश्वर भगवान विष्णु का ध्यान करो। इस उपाय से मृत्यु दूर हो जाती है। श्रीमार्कण्डेय जी ने भृगु के बलाये उपाय का एक वर्ष तक पालन किया। उस अवधि में हाथों में पास लिये यमदूत मार्कण्डेय को ले जाने के लिये आ गये, परन्तु विष्णुदूतों ने यमदूतों को मारकर भगा दिया। यमदूतों ने अपने स्वामी मृत्यु को मार्कण्डेय को ले जाने के लिए भेजा।

उस समय भगवान विष्णु ने मार्कण्डेय को मृत्यु पर विजय पाने के लिये मृत्युञ्जय स्तोत्र का उपदेश किया। मार्कण्डेय ने प्रेमपूर्वक उस स्तोत्र का पाठ करके मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली। मृत्युञ्जय स्तोत्र का पाठ सुनते ही मृत्युदेव अपने लोक में चले गये। वहाँ यमराज ने अपने दूतों से कहा कि मनुष्यलोक में जो मानव भगवान विष्णु एवं गुरु से विमुख रहते हैं मैं उन्हीं पर शासन करता हूँ। श्री हरि के शरणागत भक्तों को तो मैं स्वयं प्रणाम करता हूँ। मैं भगवान विष्णु के वश में हूँ। उनके आदेश का सदा पालन करता हूँ। भगवान से विमुख व्यक्ति कभी भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। विष कभी भी अमृत नहीं हो सकता, लोहा सैकड़ों वर्षों तक आग में तपाने पर भी सोना नहीं हो सकता। चन्द्रमा की कलङ्कित कान्ति कभी निष्कलङ्क नहीं हो सकती, परन्तु जो दूषित विचार का मानव है वह भी भगवान विष्णु के अनन्य चिन्तन एवं पूजन से निर्मल बनकर सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

मृत्युञ्जय स्तोत्र–

नारायणं सहस्त्राक्षं पद्मनाभं पुरातनम्।
प्रणतोऽस्मि हृषीकेशं किं मे मृत्युः करिष्यति।।
गोविन्दं पुण्डरीकाक्षमनन्तमजमव्ययम्।
केशवं च प्रपन्नोऽस्मि किं मे मुत्युः करिष्यति।।
वासुदेवं जगद्योनिं भानुवर्णमतीन्द्रियम्।
दामोदरं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करष्यिति।।
शंखचक्रधरं देवं छन्नरूपिणमव्ययम्।
अधोक्षजं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति।।
वाराहं वामनं विष्णुं नरसिंहं जनार्दनम्।
माधवं च प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति।।
पुरुषं पुष्करं पुण्यं क्षेमबीजं जगत्पतिम्।
लोकनाथं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति।।
भूतात्मानं महात्मानं जगद्योनिमयोनिजम्।
विश्वरूपं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करष्यिति।।
सहस्त्रशिरसं देवं व्यक्ताव्यक्तं सनातनम्।
महायोगं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति।।
मृत्युञ्जयमिदं पुण्यं मृत्युप्रशमनं शुभम्।
मार्कण्डेयहितार्थाय स्वयं विष्णुरूवाच ह।।

वर्तमान में भी जिस व्यक्ति को मारकेश हो उसे टालने के लिए तथा दीर्घजिवी बनने के लिये महात्मा भृगु एवं भगवान विष्णु के द्वारा कहे गये उपायों का पालन करना चाहिए।

●

शीलवान् बनें

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम्।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः।।

(महाभा०, शान्तिपर्व)

जिस पुरुष में उत्तम शील रहता है उसके पास धर्म, सत्य, सदाचार बल और लक्ष्मी स्थिर होकर रहती है। एक दिन धृतराष्ट्र ने सुना कि दुर्योधन बहुत दुबला होता जा रहा है। धृतराष्ट्र ने दुर्योधन से कहा कि बेटा तुम्हें महान ऐश्वर्य प्राप्त है। तुम्हारे सभी भाई, मित्र और सम्बन्धी तुम्हारी सेवा के लिए उपस्थित रहते हैं। तुम्हारे उत्तम घोड़े है, रथ है फिर तुम दुर्बल क्यों होते जा रहे हो।

दुर्योधन ने कहा पिताजी? युधिष्ठिर के महल में दस हजार महामनस्वी स्नातक ब्राह्मण प्रतिदिन सोने की थालियों में भोजन करते हैं। उनकी दिव्य सुशोभित सभाभवन है। अनेक प्रकार के घोड़े रथ आदि कुबेर के समान विशाल ऐश्वर्य को देखकर मैं निरन्तर शोक में डूबा जा रहा हूँ।

धृतराष्ट्र ने कहा बेटा? युधिष्ठिर के पास जैसी सम्पत्ति है वैसी या उससे भी बढ़कर राजलक्ष्मी को यदि तुम प्राप्त करना चाहते हो तो शीलवान् बनो। शीलगुण के द्वारा तीनों लोकों पर विजय पायी जा सकती है। शीलवानों के लिए संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है।

शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः।
न हि किंचिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत् ।।

(महाभा०, शान्तिपर्व)

सभी राजा शीलवान् और दयालु थे, मानधाता ने एक दिन में, जनमेजय ने तीन दिनों में और नाभाग ने सात दिनों में ही शीलवान् होने के कारण सम्पूर्ण पृथ्वी के राज्य प्राप्त कर लिए थे।

दुर्योधन ने कहा पिताजी जिसके द्वारा उन राजाओं ने शीघ्र ही भूमण्डल का राज्य प्राप्त कर लिया था, वह शील कैसे प्राप्त होता है? यह मैं सुनना चाहना हूँ। धृष्राष्ट्र ने कहा कि नारद जी के द्वारा मैं सुना हूँ कि दैत्यराज प्रह्लाद ने शीलगुण का ही आश्रय लेकर इन्द्रलोक सहित तीनों लोकों

को अपने वश में कर लिया था। उस समय स्वर्ग लोक के राज्य खो जाने के कारण इन्द्र ने हाथ जोड़कर वृहस्पति के पास जाकर राज्य प्राप्त करने का उपाय पूछा। वृहस्पति ने कुछ उपाय बताकर कहा कि इससे भी विशेष महत्त्वपूर्ण वस्तु का ज्ञान महात्मा शुक्राचार्य को है। इन्द्र शुक्राचार्य के पास गए, शुक्राचार्य ने इन्द्र को ज्ञान बताकर कहा कि इससे भी विशेष ज्ञान दैत्यराज प्रह्लाद के पास है तदनन्तर इन्द्र ब्राह्मण रूप धारण करके प्रह्लाद के पास गये और उसने उनसे कहा कि मैं आपसे सर्वोत्तम आचरणीय धर्म का उपदेश ग्रहण करना चाहता हूँ। ब्राह्मण की बात सुनकर प्रह्लाद को बहुत प्रसन्नता हुई, प्रह्लाद ने तथास्तु कहकर ब्राह्मण की बात मान ली और उन्होंने उसे ज्ञानतत्त्व प्रदान किया। ब्राह्मण ने प्रह्लाद से पूछा कि आप को यह त्रिलोकी का राज्य कैसे प्राप्त हुआ इसका कारण मुझे बताइये। प्रह्लाद ने कहा विप्रवर? मैं राजा हूँ इस अभिमान में आकर कभी ब्राह्मणों की निन्दा नहीं करता, बल्कि वे ब्राह्मण मुझे सुखनीति का उपदेश करते हैं तब मैं संयम पूर्वक उनकी बातों को मानकर उनकी आज्ञा को शीरोधार्य करता हूँ। मैं सदा ही शुक्राचार्य के बताये हुए मार्ग पर चलता, ब्राह्मणों की सेवा करता, किसी के दोष नहीं देखता और मन लगाकर धर्म का पालन करता हूँ। मैं क्रोध को जितकर मन और इन्द्रियों को वश में रखता हूँ। जैसे मधु की मक्खियाँ शहद के क्षत्ते को फलों के रस से सिञ्चती रहती है उसी प्रकार उपदेश देने वाले ब्राह्मण मुझे शास्त्र के अमृतमय वचनों से सींचा करते हैं, मैं उनकी नीति विद्याओं, का आस्वादन करता हूँ। जैसे चन्द्रमा नक्षत्रों पर शासन करते हैं उसी प्रकार मैं भी अपनी जाती वालों पर राज्य करता हूँ। ब्राह्मण के मुख में जो शुक्राचार्य का नीति वाक्य है यही इस भूतल पर अमृत है यही सर्वोत्तम नेत्र है। राजा इसे सुनकर इसी के अनुसार वर्ताव करे। राजन्! यदि आप प्रसन्न हैं और मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मुझे आपका ही शील प्राप्त करने की इच्छा है, यही मेरा वर है। यह सुनकर दैत्यराज प्रह्लाद प्रसन्न तो हुए परन्तु उनके मन में बड़ा भारी भय समा गया। ब्राह्मण के वर मांगने पर वे सोचने लगे कि यह कोई साधारण तेज वाला पुरुष नहीं है। फिर भी एवमस्तु कहकर प्रह्लाद ने वह वर दे दिया। उस सयम उन्हें बड़ा विस्मय हो रहा था। ब्राह्मण को वह वर देकर वे बहुत दुःखी हो गये। महाराज! वर देने के पश्चात् जब ब्राह्मण चला गया, तब प्रह्लाद को बड़ी भारी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे क्या करना चाहिये? परन्तु किसी निश्चय पर पहुँच न सके। वे चिन्ता कर ही रहे थे कि उनके शरीर से परम कान्तिमान् छायामय तेज मूर्तिमान् होकर प्रकट हुआ। उसने उनके शरीर को त्याग दिया था।

प्रह्लाद ने उस विशालकाय पुरुष से पूछा आप कौन हैं? उसने उत्तर दिया मैं शील हूँ। तुमने मुझे त्याग दिया है, इसलिये मैं जा रहा हूँ। अब मैं उस अनिन्दित श्रेष्ठ ब्राह्मण के शरीर में निवास करूँगा, जो प्रतिदिन तुम्हारा शिष्य बनकर यहाँ बड़ी सावधानी के साथ रहता था। ऐसा कहकर शील अदृश्य हो गया और इन्द्र के शरीर में समा गया। उस तेज के चले जाने पर प्रह्लाद के शरीर से दूसरा वैसा ही तेज प्रकट हुआ। प्रह्लाद ने पूछा-आप कौन हैं? उसने उत्तर दिया प्रह्लाद! मुझे धर्म समझो। जहाँ वह श्रेष्ठ ब्राह्मण है, वहीं जाऊँगा। दैत्यराज! जहाँ शील होता है, वहीं मैं भी रहता हूँ। तदनन्तर महात्मा प्रह्लाद के शरीर से एक तीसरा पुरुष प्रकट हुआ, जो अपने तेज से प्रज्वलित-सा हो रहा था। आप

कौन हैं? यह प्रश्न होने पर उस महातेजस्वी ने उन्हें उत्तर दिया असुरेन्द्र! मुझे सत्य समझो, मैं अब धर्म के पीछे-पीछे जाऊँगा। सत्य के चले जाने पर प्रह्लाद के शरीर से दूसरा महापुरुष प्रकट हुआ। परिचय पूछने पर उस महाबली ने उत्तर दिया प्रह्लाद! मुझे सदाचार समझो। जहाँ सत्य होता है, वहीं मैं भी रहता हूँ। उसके चले जाने पर प्रह्लाद के शरीर से महान् शब्द करता हुआ पुन: एक पुरुष प्रकट हुआ। उसने पूछने पर बताया मुझे बल समझो। जहाँ सदाचार होता है, वहीं मेरा भी स्थान है। ऐसा कहकर बल सदाचार के पीछे चला गया। तत्पश्चात् प्रह्लाद के शरीर से एक प्रभामयी देवी प्रकट हुई। दैत्यराज ने उससे पूछा-आप कौन हैं? वह बोली—मैं लक्ष्मी हूँ। सत्यपराक्रमीवीर! मैं स्वयं ही आकर तुम्हारे शरीर में निवास करती थी, परन्तु अब तुमने मुझे त्याग दिया, इसलिये चली जाऊँगी, क्योंकि मैं बलकी अनुगामिनी हूँ। तब महात्मा प्रह्लाद को बड़ा भय हुआ। उन्होंने पुन: पूछा कमलालये। तुम कहाँ जा रही हो तुम तो सत्यव्रता देवी और सम्पूर्ण जगत् की परमेश्वरी हो। वह श्रेष्ठ ब्राह्मण कौन था। यह मैं ठीक-ठीक जानना चाहता हूँ।

लक्ष्मी ने कहाँ-प्रभो। तुमने जिसे उपदेश दिया है, उस ब्रह्मचारी ब्राह्मण के रूप में साक्षात् इन्द्र थे। तीनों लोकों में जो तुम्हारा ऐश्वर्य फैला हुआ था, वह उन्होंने हर लिया। धर्मज्ञ! तुमने शील के द्वारा ही तीनों लोकों पर विजय पायी थी। प्रभो? यह जानकर ही सुरेन्द्र ने तुम्हारे शील का अपहरण कर लिया है।

महाप्राज्ञ! धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं लक्ष्मी ये सब सदा शील के ही, आधार पर रहते हैं–शील ही इन सबकी जड़ है। इसमें संशय नहीं है।

भीष्मजी कहते हैं युधिष्ठिर यों कहकर लक्ष्मी तथा वे शील आदि समस्त सद्गुण इन्द्र के पास चले गये। इस कथा को सुनकर दुर्योधन ने पुन: अपने पिता से कहा—महाराज! मैं शील का तत्व जानना चाहता हूँ। शील जिस तरह प्राप्त हो सके, वह उपाय भी मुझे बताइये। शील का स्वरूप और उसे पाने का उपाय ये दोनों बातें महात्मा प्रह्लाद ने पहले ही बतायी है। मैं संक्षेप से शील की प्राप्ति का उपायमात्र बता रहा हूँ।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ।।

(महाभा०, शन्तिपर्व)

मन, वाणी और क्रिया द्वारा किसी भी प्राणी से द्रोह न करना, सब पर दया करना और यथाशक्ति दान देना–यह शील कहलाता है, जिसकी सब लोग प्रशंसा करते हैं। अपना जो भी पुरुषार्थ और कर्म दूसरों के लिये हितकर न हो अथवा जिसे करने में संकोच का अनुभव होता हो, उसे किसी तरह नहीं करना चाहिये। जो कर्म जिस प्रकार करने से भरी सभा में मनुष्य की प्रशंसा हो, उसे उसी प्रकार करना चाहिये। कुरुश्रेष्ठ यह तुम्हें थोड़े में शील का स्वरूप बताया गया है। तात! नरेश्वर। यद्यपि कहीं-कहीं शील हीन मनुष्य भी राजलक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं, तथापि वे चिरकाल तक उसका उपभोग नहीं कर पाते जैसे औखे जड़ मूल सहित नष्ट हो जाते हैं।

यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति चियं क्वचित् ।
न भुञ्जते चिरं तात समूलश्च न सन्ति ते ।।

(महाभा० शान्तिपर्व)

आध्यात्म की ओर बढ़ने के लिए उपनिषद् पढ़ें

इन्द्रियातीत जीवात्मा और परमात्मा का ज्ञान ही अध्यात्म है। इन दोनों के यथार्थ ज्ञान को अध्यात्म विद्या कहते हैं। अध्यात्म विद्या ही मुक्ति का उपाय है। ***'सा विद्या या विमुक्तये'*** जब तक जीव का सम्बन्ध अध्यात्म से नहीं होता तब तक दुःख की निवृत्ति नहीं होती है। अध्यात्म ज्ञान का यथार्थ रहस्य वेदान्त दर्शन से समझा जाता है। वेद के अन्तिम भाग को वेदान्त कहते हैं जो उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध है। वेदान्त का तीन प्रस्थान है। उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र। इनमें उपनिषद् मुख्य है। उसी का सार गीता है। अनादि काल से उपनिषद् जीवतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व का यथार्थ आलोक देता रहा है। उपनिषद् के आलोक से जीवात्माओं का अज्ञानान्धकार दूर होता है।

उपनिषद् शब्द उप-नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से निष्पन्न होता है। जिसके ज्ञान से निश्चत रूप से अविद्या का नाश संसार के बन्धनों की शिथिलता तथा मोक्ष की प्राप्ति हो उसे उपनिषद् कहते हैं।

आज भारत को गौरवान्वित करने वाला उपनिषद् ग्रन्थ है। समस्त विश्व में मानवीय जीवन के उद्देश्य का आलोक उपनिषद् से मिला है और मिल रहा है। ब्रह्म, जीव, कर्म, ज्ञान, भक्ति तथा प्रपत्ति आदि का उल्लेख किसी भी ग्रन्थ में किया गया है तो उसका आधार उपनिषद् ही है। श्री तुलसीदास ने अपने ग्रन्थ श्रीरामचरितमानस में तत्त्व की प्रमाणिकता के लिये उपनिषद् का ही नाम दिया है। उपनषिद् हमारे समक्ष सत्य का वह सिद्धान्त रखा है जो परोक्ष तथा रहस्यात्मक स्वानुभूति जन्य है। उसकी ओर कोई भी अंगूली नहीं उठा सकता, उसे सभी दर्शन अपने प्रयासों का अन्तिम लक्ष्य समझते हैं। दसवीं शताब्दी में स्वामी श्रीरामानुजाचार्य ने उपनिषदों के हृदयगत भाव को प्रगट किया है वेदार्थ संग्रह में। ब्रह्म, जीव की एकता तथा माया को मिथ्या बतलाने वालों को उपनिषद् मन्त्रों से गलत सिद्ध कर दिया और उन्हीं मन्त्रों से जीवात्मा को ब्रह्म का दास और माया को परिणामी बतलाकर आध्यात्मिक जनता के बीच तीनों तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप प्रदर्शित किया है। अन्य ग्रन्थों पर किसी की शंका हो सकती है; परन्तु आज तक उपनिषद् पर अविश्वास किसी को नहीं हुआ। उपनिषद् के सार होने के कारण श्रीमद्भगवद्गीता के वचनों पर भी किसी का अविश्वास नहीं हुआ।

आपके धन, घर, शरीर आदि साधन हैं साध्य नारायण की प्राप्ति है। उनकी कृपा से आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति होती है। यह उपनिषद् का मन्त्र सदा सबों के लिये स्मरणीय है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न
मेधयान बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनूम् स्वाम्।।

(कठोपनिषद् -१-२-२३)

अर्थात् परमात्मा उन्हें प्राप्त नहीं होते हैं जो शास्त्रों को पढ़कर ब्रह्म तत्व का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं, और न उन्हें प्राप्त होते हैं जो तर्कशील बुद्धिवाले हैं तथा बहुत शास्त्रों को सुने हैं परमात्मा तो उसे ही प्राप्त होते हैं जिसे वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं। वे स्वीकार उसी को करते हैं जिसको उनकी प्राप्ति के लिये उत्कट इच्छा होती है जो उनके वियोग में एक क्षण भी रहना नहीं पसन्द करते हैं और जो अपनी बुद्धि या साधन पर भरोसा न करके केवल उनकी कृपा की आशा करते हैं। परमात्मा अपनी माया का परदा हटाकर उस भक्त के सामने प्रकट हो जाते हैं।

कलियुग में आलवार श्रीकुलशेखर, श्रीपरकाल श्रीपरांकुशमुनि आदि को परमात्मा ने स्वीकार किया।

आज मानव धन, घर, भोग आदि को साध्य मानकर चल रहा है। कोई किसी देवता का पूजन भी कर रहा है तो धनादि के लिये ही। ये सारे कार्य पूर्ववासना वश हो रहे हैं। मानव अपने जीवन के उद्देश्य को भूला हुआ है। श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अवतारों में भगवान ने जीवन के उद्देश्य पर विशेष उपदेश किया, परन्तु मानव मोहरूप अविद्या के कारण भगवान के उन दिव्य उपदेशों को नहीं समझ रहा है। जिसका फल है वर्तमान समय में एक भी मानव सुखी नहीं पाया जा रहा है।

मोह सकल व्याधिन कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजै बहुसूला।।

जैसे सूर्य के बिना अन्धकार दूर नहीं हो सकता वैसे ही उपनिषद् प्रतिपाद्य भगवान से प्रेम बिना मोह दूर नहीं हो सकता।

उपनिषद् का पवित्र आदेश है कि अखिल ब्रह्माण्ड में जो भी चराचरात्मक जगत् देखने या सुनने में आ रहा है वह सब सर्वाधार सर्वशक्तिमान सकल दोष रहित अनन्त कल्याणों के निधि परमेश्वर से व्याप्त है। इसका कोई अंश परमात्मा से रहित नहीं है। अत: मानव सदा सर्वदा उस परमेश्वर का स्मरण करते हुए ममता और आसक्ति का त्याग करके स्वकर्त्तव्य पालन के लिये ही विषयों का उपभोग करे। विश्वरूप ईश्वर की पूजा के लिये कर्मो का आचरण करें। विषयों में आसक्ति न रखे। इस रूप में आचरण करने से नारायण की प्रसन्नता होती है। और दु:ख की अनुभूति नहीं होती है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीया मा गृध: कस्यस्विद्धनम्।।

●

तृष्णा निवृत्ति से सुख

युधिष्ठिर ने भिष्मपितामह से पूछा कि यदि कोई मनुष्य धन की तृष्णा से ग्रस्त होकर तरह-तरह के उद्योग करने पर भी धन न पा सके तो वह क्या करे, जिससे उसे सुख की प्राप्ति हो सके। भीष्मजी ने कहा-सबसे समता का भाव, व्यर्थ परिश्रम का अभाव, सत्यभाषण, संसार से वैराग्य और कर्मासक्ति का अभाव ये पाँचों जिस मनुष्य में होते हैं, वह सुखी होता है। ज्ञान वृद्ध पुरुष इन्हीं पाँच वस्तुओं को शान्ति का कारण बताते हैं यही स्वर्ग है। यही धर्म है और यही परम उत्तम सुख माना गया है।

एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया इस विषय में भिष्मपितामह ने जो इस प्रकार है। पूर्व काल में मंकि नाम के एक मुनि थे, उनमें धन की तृष्णा वश गई थी, धन प्राप्त करने के लिए वे अनेक प्रकार के चेष्टायें किया करते; परन्तु हर बार उनका प्रयत्न व्यर्थ हो जाता, जिससे उनकी सारी चेष्टायें निष्फल हो जाती। उनके पास जो धन था वह भी धीरे-धीरे समाप्त होने लगा। अब उन्होंने सोचा कि जो यह थोड़ा सा धन बचा है इससे दो बछड़े खरीद लिए जायें और फिर उनसे खेती करके खूब धन कमाया जाय। फिर उन्होंने ऐसा ही किया जो धन बचा था, उससे दो सुन्दर बछड़े खरीद लिए। बछड़े खूब हृष्ट-पुष्ट थे। इनसे जुताई का कार्य बढ़िया होगा तो अनाज भी खूब पैदा होगा-ऐसा वे सोचने लगे। उन्हें अपनी आशा के फलवती होने के आसार नजर आये। फिर एक दिन वे उन बछड़ों को परस्पर जोतकर हल चलाने की शिक्षा देने के लिए घर से निकल पड़े। जब गाँब से बाहर थोड़ी दूर पहुँचे तो मार्ग को बीचोबीच एक ऊँट रास्ता घेरे बैठा था। दोनों बछड़े ऊँट को बीच में कर उसके

ऊपर से निकलने लगे, किन्तु ज्योंही वे उसकी गरदन के पास पहुँचे त्योंही ऊँट को बड़ी चुभन मालूम हुई। वह चुभन उसके लिए असह्य हो गयी।

वह रोष में भरकर हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ। इससे दोनों बछड़े जो परस्पर बंधे हुए थे वे ऊँट के दोनों ओर लटक गये, एक गरदन के एक ओर तो दूसरा गरदन के दूसरी ओर। ऊँट उन्हें लटकाये ही सर पट भागने लगा। बछड़ों का गला चूँकि रस्सी से बँधा था, अत: लटके रहने से उनकी साँस रूक गयी और वे दोनों बछड़े मर गये। यह सब दृश्य मंकि मुनि अपनी आँखों के सामने देख रहे थे, पर उनका कुछ वश नहीं था। अत: वे तृष्णा से मुख मोड़कर बोल पढ़े—

मनुष्य कैसा ही बुद्धिमान क्यों न हो, जो उसके भाग्य में नहीं है, उसे वह किसी भी प्रयत्न से प्राप्त नहीं कर सकता। देखो। दैवयोग से मेरे सामने यह कैसा दृश्य उपस्थित हो गया है, मुझे लगता है कि हठपूर्वक किये गये पुरुषार्थ से भी कुछ नहीं होता। अत: सुख की इच्छा रखने वाले पुरुष को धन आदि भोगों की ओर से वैराग्य का ही आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि धनोपार्जन की चेष्टा से निराश होकर जो विरक्त हो जाता है, वह सुख की नींद सोता है—

तस्मान्निर्वेद एवेह गन्तव्यः सुखमिच्छता।
सुखं स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने।।

(महाभा० शान्ति०-१७७.१४)

शुकदेव जी जब महाराज जनकजी के राज महल का त्यागकर वन की ओर जाने लगे तब उस समय उन्होंने ठीक ही कहा था—

जो मनुष्य अपनी समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है तथा जो इन सबका केवल त्याग कर देता है- इन दोनों के कार्यों में समस्त कामनाओं को प्राप्त करने की अपेक्षा उनका त्याग ही श्रेष्ठ है–

यः कामानाप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते।।

(महाभा० शान्ति०-१७७.१६)

क्योंकि पहले कोई भी तृष्णा का अन्त नहीं प्राप्त कर सका है। इसलिए अरे मन! तुम कामनाओं के दास होकर भोग प्राप्ति की चेष्टा करके बार-बार ठगे जा चुके हो, फिर भी आश्चर्य है कि तुम इस तृष्णा को छोड़ते नहीं। अरे काम! मैं तुझे अच्छी तरह जानता हूँ और जो तुझे प्रिय लगता है, उससे भी परिचित हूँ, चिरकाल से तेरा प्रिय करने की चेष्टा करता आ रहा हूँ, परन्तु कभी मेरे मन में सुख-शान्ति का अनुभव नहीं हुआ। अरे काम! मैं तेरी जड़ को जानता हूँ। निश्चय ही तू संकल्प से उत्पन्न होता है। अब मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा, जिससे तू समूल नष्ट हो जायगा।

जानामि काम त्वां चैव यच्च किञ्चित् प्रियं तव।
तवाहं प्रियमन्विच्छन्नात्मन्युपलभे सुखम्।।
काम जानामि ते मूलं सङ्कल्पात् किल जायसे।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि।।

(महाभा० शान्ति-१७७.२४-२५)

धन की इच्छा या चेष्टा सुखदायिनी नहीं है, पहले तो धन की प्राप्ति के प्रयत्न में कष्ट, मिल जाने पर उसकी रक्षा करने में कष्ट और कदाचित् नष्ट हो जाय तो फिर कष्ट-ही-कष्ट। इस प्रकार यह धन आदि इन्द्रिय भोगों की पिपासा बढ़ती ही रहती है। अत: अब मेरा यह तृष्णा का पुंजरूपी इन्द्रिय शरीर रहे चाहे न रहे, अब मैं शुद्ध सत्व का ही आश्रय ले रहा हूँ। धन की तृष्णा का फल मुझे मिल गया है।

धन लोलुपता दु:ख का कारण है, यह बात मुझे बहुत देर बाद समझ में आयी है। अरे काम! तू मुझे दु:खों में फँसाना चाहता है, पर अब तेरी चाल मुझ पर चलेगी नहीं। अब तू मेरे भीतर प्रवेश

नहीं कर सकता। तुम्हें खुश करने के लिये मैने आजतक बहुत क्लेश सहे, पर आज मेरा सब कुछ चला गया है, मैं धन, भोग आदि सभी से रहित हो गया हूँ, परन्तु आज मुझे तुम्हें छोड़ने में सब कुछ मिल गया है। धन का नाश हो गया, मेरी सारी चिन्ता भी मिट गयी, आज मैं सुख से सो सकूँगा। काम! मैंने तेरा परित्याग कर दिया है, अब तुम जाओ या रहो। इससे मुझमें कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है।

सबसे बड़ी बात यह है कि ज्यों ही मैंने तेरा त्याग किया, त्यों ही मुझे ऐसे परम कल्याणकारी आठ सद्गुण (१) वैराग्य (२) सुख (३) तृप्ति (४) शान्ति (५) सत्य (६) दम (७) क्षमा और समस्त प्राणियों के प्रति दया भाव मिल गये हैं जो कि अभ्युदय को प्राप्त कराने वाले हैं

निर्वेदं निर्वृतिं तृप्तिं शान्तिं सत्यं दमं क्षमाम्।
सर्वभूतदयां चैव विद्धि मां समुपागतम्।।

(महाभा० शान्ति-१७७.४५)

मनुष्य जिस-जिस कामना को छोड़ देता है, उस-उस की ओर से वह सुखी हो जाता है। कामना के वशीभूत रहने में तो दुःख ही दुःख है। दुःख निर्लज्जता और असंतोष–ये काम और क्रोध से ही उत्पन्न होने वाले हैं। इस लोक में जो विषयों का सुख है तथा परलोक में जो दिव्य एवं महान सुख है–ये दोनों प्रकार के सुख तृष्णा के क्षय से होने वाले सुख की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।।

(महाभा० शान्ति०-१७७.५१)

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममता–ये देह धारियों के सात शत्रु हैं। इनमें भी काम रूपी शत्रु सबसे प्रबल है, इसको जीत लेने से सब पराजित हो जाते हैं।

आज मैंने इस काम का परित्याग कर दिया है, अब मुझे भोगों से विरति हो गयी है। ऐसा कहकर मङ्कि शान्त हो गये। बछड़ों के निमित्त से उन्हें तत्त्वज्ञान हो गया। समस्त कामनाओं का परित्याग कर वे निष्काम भाव में प्रतिष्ठित हो गये और उन्हें परमानन्दपद की प्राप्ति हो गयी। इस प्रकार तृष्णा के त्याग से परम सुख की प्राप्ति हो जाती है।

(महाभा० शान्ति० १७७)

●

गीतार्थ-सङ्ग्रह

ज्ञानकर्मात्मिके निष्ठे योगलक्ष्ये सुसंस्कृते।
आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थे पूर्वषट्केन चोदिते।।

गीतार्थ संग्रह के प्रथम श्लोक से सम्पूर्ण गीता का भाव दिया गया है इससे पूर्व अंक में। अब द्वितीय श्लोक से प्रथम षट्क अर्थात् प्रथम से छठा अध्याय तक के विशेष भाव दिया जा रहा है। प्रथम निष्काम कर्म का पालन तदनन्तर ज्ञानयोग बनता है जिसकी इन्द्रियाँ चञ्चल है उसके लिए कर्म योग ही श्रेयस्कर है और जिसकी इन्द्रियाँ वश में हो गई हैं वह ज्ञानयोग का अधिकारी होता है।

कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध के लिए उपस्थित कौरव और पाण्डव पक्षीय सेनाओं को देखकर अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से कहा कि दोनों सेनाओं के बीच मेरा रथ खड़ा कर दीजिये। मैं किनके साथ युद्ध करूँ, यह निर्णय कर लूँगा। अर्जुन के संकेत पर भगवान ने दोनों पक्षों के बीच रथ खड़ा कर दिया। अर्जुन ने जब कौरव और पाण्डव पक्ष की सेनाओं में अपने पूज्य जनों एवं परिवारों को देखा,

तब युद्ध के परिणाम को समझकर पाप के भय से भीत हो गया। तदनन्तर जातिधर्म और कुलधर्म के नाश की बात करता हुआ अर्जुन के अङ्ग में शिथिलता आ गयी। वह ''युद्ध नहीं करूँगा'' ऐसा कहता हुआ धनुषबाण रखकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

भगवान ने करुणा वश तथा अधर्म के भय से युद्ध से विमुख होता हुआ अर्जुन को देखकर कहा कि तुम क्षत्रिय हो, तुम्हें युद्ध से विमुख होना लोक एवं परलोक के लिए विशेष हानिकर है। लोक में तुम्हारी घोर निन्दा होगी और युद्ध-विमुखता क्षत्रिय के लिए धर्म-विरूद्ध आचरण है, अत: इस कृत्य से तुम्हें परलोक भी नहीं मिलेगा। इसलिए तुम अपनी कायरता को छोड़कर युद्ध के लिए उपस्थित हो जाओ। भगवान् के वचन सुनकर अर्जुन ने कहा कि भिक्षा के अन्न से जीवन निर्वाह कर लेना मुझे स्वीकार है, परन्तु पूज्य भीष्माचार्य, द्रोणाचार्य तथा परिवारों को मारकर खून से लथपथ पृथ्वी के राज्य को भोगना मुझे स्वीकार नहीं। उसने यह भी कहा कि मुझे कर्त्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रह गया है। मैं आपका प्रपन्न शिष्य हूँ। अत: मेरे लिए जो हितकर मार्ग हो उसे बतलाने की कृपा करें। अर्जुन के वचन से भगवान् समझ गये कि इसे शरीर और आत्मा के यथार्थ स्वरूप तथा स्वकर्त्तव्य कर्म का ज्ञान नहीं है। अत एव यह मोहग्रस्त हो गया है। उसके मोह को दूर करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने आत्मस्वरूप का उपदेश करते हुए उन्होंने अर्जुन से कहा कि मैं, तुम और युद्ध के लिए उपस्थित राजागण इससे पूर्व अतीत काल में थे, वर्तमान में हैं और भविष्य में भी सभी रहेंगे।

भगवान ने जीवात्माओं के लिए १६ विशेषण दिया है- नाशरहित, अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य, अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अज, नित्य, शाश्वत्, पुराण, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन।

प्रत्यक्ष होने वाले प्राकृत जड़ पदार्थों के समान जीव का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अत: वह अव्यक्त है। प्राकृत पदार्थों के समान चिन्तन का विषय नहीं है, इसलिए उसे अचिन्त्य कहा गया है। जैसे प्राकृत पदार्थों में काल के प्रभाव से विकार होते हैं वैसे आत्मा के स्वरूप में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता है, अत: अविकार्य है।

'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयम्' (गी० १३.१५) के अनुसार आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म अणुरूप है। यही कारण है कि उसे शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता। इसलिए अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य कहा गया है। वह नित्य, स्थाणु, स्थिरस्वभाव अचल विचलित नहीं होने वाला और सनातन है।

जैसे प्रत्येक तिल में भिन्न-भिन्न तेल व्याप्त है और प्रति लकड़ी में भिन्न-भिन्न आग व्याप्त है, उसी प्रकार प्रत्येक जड़ शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा व्याप्त है। अन्तर इतना ही है कि प्रत्येक तिल में रहने वाला भिन्न-भिन्न तेल सर्वांश में स्वत: व्याप्त रहता है और भिन्न-भिन्न आग भी लकड़ियों में उसी प्रकार व्याप्त है, परन्तु जीवात्मा अत्यन्त सूक्ष्म होने से शरीर के एक भाग हृदय में रहता है। उसका ज्ञान सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ है। उस ज्ञान द्वारा शरीर में आत्मा की व्यापकता है। जैसे देह के एक स्थान में लगाया हुआ मयलगिरि चन्दन अपने गन्ध रूपी गुण द्वारा सारे शरीर को सुगन्धित करता है, वैसे ही जीवात्मा देह के एक हृदय-स्थान में स्थित रहकर अपने ज्ञान रूपी गुण द्वारा सारे शरीर के सुख-दु:खों का अनुभव करता है। इसी भाव से भगवान ने कहा है कि ***'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्'*** अर्थात् उस आत्मा को अविनाशी समझो जिससे सारा जगत् व्याप्त है।

जीवात्मा स्वरूपत: राग द्वेष आदि विकारों से

रहित है, किन्तु प्रकृति के सम्बन्ध से उसमें रागादि विकार उत्पन्न होते हैं। वे विकार जीव में जब तक रहते हैं तब तक जीव पूर्ण सुखी नहीं होता। उन्हीं दोषों के कारण ज्ञानानन्द स्वरूप जीवात्मा अज्ञानी बना रहता है। उन दोषों के निवृत्त होने पर आत्मा के यथार्थ स्वरूप का दर्शन होता है। तदनन्तर भगवान में अविरल प्रेम बनता है। वे दोष तब निवृत्त होते हैं, जब निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान किया जाता है। सकाम कर्म से आत्मा में मल बनता है और निष्काम कर्म से उसका मल नष्ट होता है। फल की कामना से रहित कर्म निष्काम कहलाता है। कर्म करते समय कर्म में ममता और कर्तृत्त्वाभिमान त्याग भी आवश्यक हो जाता है। सफलता और असफलता दोनों में समान बना रहना ही योग है। भगवान ने निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन दो श्लोकों से किया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।

(गी० २.४७-४८)

जब निष्काम कर्मानुष्ठान से राग, द्वेषादि सारे मल निवृत्त हो जाते हैं तब बुद्धि में स्थिरता आ जाती है। उसी को स्थित प्रज्ञता या ज्ञाननिष्ठा कहते है। ज्ञाननिष्ठा ही ज्ञानयोग है उससे आत्मदर्शन प्राप्त होता है। ***(क्रमशः)***

सरौती की प्राचीनता

-श्रीकृष्णप्रपन्नाचारी जी (इन्जिनियर साहब)

दुर्वासा ऋषि कभी किसी कारण से क्रोधाभिभूत थे और सरस्वती देवी यह देखकर हँस पड़ी। दुर्वासा ऋषि ने सरस्वती देवी को शाप दे दिया कि तू स्वर्ग से गिरकर पृथ्वी पर चली जा। सरस्वती देवी के दुःखी होने पर ब्रह्मा ने सांत्वना देते हुए कहा कि जाओ वहाँ एक पुत्र उत्पन्न कर तुम शाप से मुक्त हो जाओगी तथा पुनः अपने मूल स्थान स्वर्ग को प्राप्त कर लोगी। ब्रह्मा ने साथ में सावित्री को भी लगा दिया। तदनुसार अरवल के पास सोननदी के किनारे स्वर्ग से सरस्वती देवी पधारी और च्यवन ऋषि के आश्रमक्षेत्र के अन्तर्गत मधुसरमा के पास आश्रम बनाकर रहने लगी।

ब्रह्मा के मानस पुत्र भृगु ऋषि के पुत्र च्यवन ऋषि का प्रादुर्भाव सोन नदी के किनारे हुआ था। सिंह के दहाड़ से भयाकुल होने के कारण भृगुऋषि की पत्नी का गर्भस्राव हो गया था और इसीलिये गर्भ से च्युत होने के कारण जातक का नाम 'च्यवन' पड़ा। वधू के गर्भस्राव के कारण ही उस स्थान का नाम 'वधुश्रवां' हो गया जो आज अपभ्रंश होकर 'मधुसरमा' कहा जाता है। प्राचीनकाल में घनघोर जंगल होने के कारण च्यवन आश्रम एक विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ था जिसके अन्तर्गत कलेर के पास का देवकुण्ड तथा मधुसरमा आदि आज अवस्थित है। च्वन आश्रम के बारे में एक श्लोक प्रसिद्ध है जो कीकट क्षेत्र एवं मगध की महत्ता को प्रदर्शित करता है।

कीकटेषु गया पुण्या पुण्यं राजगृहं वनम्।
च्यवनस्य आश्रमं पुण्यं पुण्यानदी पुनः पुना।।

च्यवन ऋषि लम्बी अवधि तक तपस्या रत हो गये जिसके कारण उनके शरीर के चारों ओर दीमक आदि ने बाबी बना दिया। राजा शर्याति अपनी पुत्री सुकन्या के साथ एक बार यहीं घूमते आये तथा

चपल स्वभाववश सुकन्या ने उस दीमक बाबी के भीतर से दो चमकते बिन्दुओं को कुश से खोद दिया। फलस्वरूप च्यवन ऋषि की आँखें फूट गयीं। राजा अपनी पुत्री सुकन्या को ऋषि की सेवा में छोडकर चले गये। च्यवन ऋषि ने देवताओं के वैद्य अश्विनी कुमार को आमंत्रित कर अपना दिव्य स्वरूप प्राप्त करने हेतु एक यज्ञ कराया। अश्विनीकुमारों ने एक कुण्ड का निर्माण किया और इसके जल में औषधियों को डालकर स्वयं भी ऋषि के साथ स्नान किया। स्नान करते ही उस जल से तीन दिव्यस्वरूपधारी मनुष्य के स्वरूप में प्रकट हुए। सुकन्या अपने पति को न पहचान सकी; परन्तु उन लोगों के शरण में गिरने पर उसे च्यवन ऋषि मिल गये। यही यज्ञकुण्ड आज 'देवकुण्ड' के नाम से कलेर के पास अवस्थित है जो अपभ्रंश होने के कारण 'देकुड़' कहा जाता है।

सुकन्या एवं च्यवन ऋषि से भार्गववंशीय दधीचि की उत्पत्ति हुई। सरस्वती देवी भी इस बीच इसी क्षेत्र में निवास कर रही थी। उसे कुमारावस्था से संपन्न दधीचि से प्रेम हो गया। फलस्वरूप एक पुत्र का जन्म हुआ जो 'सारस्वत' कहा जाने लगा। पुत्र उत्पत्ति के साथ ही सरस्वती देवी के शाप का अन्त हो गया तथा वह पुन: स्वर्ग में चली गयी। सरस्वती देवी के चले जाने से दधीचि उदास रहने लगे। अक्षमाला नामक एक मुनिकन्या को सारस्वत के पालन पोषण का भार दे वे तपस्या करने चले गये। अक्षमाला को भी अपने पति से एक 'वत्स' नामक पुत्र था। दोनों बच्चों का पालन पोषण का भार अक्षमाला के ऊपर ही था। दोनों बच्चे सहोदर भाई की तरह पाले पोसे गये तथा बाद में इन्हीं दोनों से 'सारस्वत गोत्रीय' तथा वात्स्यायन गोत्रीय कुलपरम्परा चली।

वात्स्यायन गोत्र में इसी क्षेत्र में वाणभट्ट जैसे विद्वान का प्रादुर्भाव हुआ जिनकी 'कादम्बरी' नामक रचना संस्कृत साहित्य में अपना एक विशेष स्थान रखता है तथा विश्व का यह पहला उपन्यास माना जाता है। इस उपन्यास का नाम इसकी नायिका के नाम पर है। वाणभट्ट इसको पूरा करने के पहले ही संसार से चल बसे थे। इनके पुत्र भूषणभट्ट ने इसे पूरा किया जो कादम्बरी का उत्तरभाग कहा जाता है और बाणभट्ट द्वारा रचित भाग को पूर्वभाग कहते हैं। संसार में प्रसिद्ध लंदन के रायल एसियेटिक सोसायटी के पुस्तकालय में इसकी प्राचीन प्रति तथा अंग्रेजी अनुवाद उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त संसार के अन्य प्रसिद्ध पुस्तकालयों में इसकी प्रतियाँ उपलब्ध हैं।

वभूव वात्स्यायनवंश संभवो द्विजो
जगद्जीत गणोऽग्रणी सताम् ।
अनेक गुप्तार्चित पादपंकजः
कुबेरनामांश एव स्वयम्भुवः ।।

(बाणरचित कादम्बरी)

बाणभट्ट सातवीं शताब्दी के राजा हर्षवर्धन के राजपंडित थे। इनकी अन्य रचनायें हैं 'हर्षचरित' तथा 'पार्वतीपरिणय' आदि। बिहार प्रांत के औरंगाबाद जिला के हसपुरा प्रखंड में पीरो नामक एक गाँव है जहाँ की बहुतायत आबादी मुसलमानों की है जो ऐसा सुना जाता है कि अपने को भूमिहार ब्राह्मण पठान कहते हैं तथा इस गाँव के पुस्तकालय में वाणभट्ट की रचनाओं की पांडुलिपि संरक्षित है। सरौती में स्वामी जी ने एकबार वात्स्यायन गोत्रीय वाणभट्ट की जयंती मनाने हेतु विद्वान् इतिहासकारों की सभा बुलायी थी, जिसमें पटना विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध इतिहसकार श्री जगन्नाथ सरकार ने भी भाग लिया था। इस सभा ने वाणभट्ट का जन्मस्थान सरौती के ही आसपास निर्धारित की थी। इससे यह अनुमान लगाना सही होगा कि यह स्थान प्राचीनकाल से ही उत्कर्ष बौद्धिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक धरोहर का प्रतीक रहा है। वे दुनिया के वाइकीपेडिया

में सर्च करने पर 'सरौती' नाम का इस धराधाम पर अकेला स्थान मिलता है।

प्राचीन काल के सरस्वती आश्रम का केन्द्र बिन्दु होने के अनुमान के कारण सरौती का प्राचीन नाम सरस्वती माना जाता है जो बाद में अपभ्रंश होकर 'सरौती' पुकारा जाने लगा। ऐसे भी श्रीस्वामी परांकुशाचार्य जी के यहाँ पदार्पण से तथा इस स्थान को अपने कर्मक्षेत्र का केन्द्र बनाने से इसकी पवित्रता एवं महत्ता प्रमाणित होती है। अब तो यह अवलोकत अपहरत विषादा को चरितार्थ करता है तथा 'सवति इति सरौती' यानी जहाँ पाप का स्वत: स्राव हो जाय, यानी जहाँ स्वयमेव पाप वह जायें' वह सरौती है यह स्वत: सिद्ध हो गया है।

●

सरौती ठाकुरवारी

-श्रीकृष्णप्रपन्नाचारी जी (इन्जिनियर साहब)

ई० सन् १९१० की बात है। यातायात के साधन में प्राय: घोड़ा या बैल का ही प्रयोग होता था। व्यापारी लोग बैल के माध्यम से सामान एक जगह से दूसरे जगह ले जाते थे। एक दिन एक व्यापारी श्रीराम लक्ष्मण एवं सीताजी के प्रस्तर विग्रह बेचने सरौती पहुँचा। गाँव के भक्तों में श्रीराघवेन्द्र सरकार को गाँव में ही रखने का विचार आया। पैसा चन्दा कर विग्रह खरीद लिये गये। श्रीराघव जी नामक एक भक्त ने कुछ जमीन ठाकुर जी के नाम दे दी। ठाकुरवारी के लिये मिट्टी एवं खपड़ा के दो तीन घर बनाये गये। ठाकुर जी की प्राणप्रतिष्ठा के लिये सुयोग्य संत का अन्वेषण होने लगा तथा तरेत के परमहंस स्वामीजी से इस पुनीत कार्य के लिये निवेदन किया गया। परमहंस स्वामी जी पधारे तथा अपने नियम वश गाँव के बाहर ही बगीचा में ठहर गये। उन्होंने ही वृन्दावन से याज्ञिक तथा पुजारी आदि की व्यवस्था कर दी थी। ई० सन् १९१२ में ठाकुर जी अपने ठाकुरवारी में विराज गये तथा विधिवत् नित्य पूजा का शुभारंभ हो गया। परमहंस स्वामी जी ने एक 'यमुना गाय' प्रसाद बनाने का एक बड़ा टोकना, ठाकुर जी के लिए एक पर्दा तथा श्रीरामप्रपन्नाचार्य नाम के एक पुजारी ठाकुर जी को अपनी तरफ से भेंट स्वरूप अर्पित किये।

ई० सन् १९१५ में परमहंस स्वामी जी का महाप्रयाण हो गया श्री परांकुशाचार्य जी उदास रहने लगे। परमहंस स्वामी जी के श्रीवासुदेवाचार्य नाम के एक अन्य शिष्य जो नासिक स्वामी जी के नाम से प्रसिद्ध थे तरेत के स्थानाधीश बनाये गये।

श्री परांकुशाचार्य जी पूर्व से ही गान एवं वादन विद्या में कुशल थे। इनका अधिकांश समय भगवान के भजन कीर्तन में ही बीतने लगा। सरौती के भक्तों को ठाकुरवारी के लिये एक अच्छे व्यवस्थापक की खोज थी। ये लोग श्री परांकुशाचार्य जी के पास पहुँचे तथा उन्हें सरौती लाने में सफल हो गये। श्री परांकुशाचार्य जी अब सरौती स्वामी जी के नाम से जाने लगे। पहले का ठाकुरवारी गाँव से बाहर था तथा ठाकुर जी के पूर्वाभिमुखी होने के कारण गाँव ठाकुर जी के पीठ के तरफ पीछे पड़ जा रहा था। कुछ भक्तों के मन में इसे गाँव की प्रगति के लिये बाधक होने का मान होने लगा। इन लोगों ने श्रीस्वामी जी से अपनी मनसा प्रकट की। पहले वाले ठाकुरवारी के पास ही ई० सन् १९३० में तरेत स्थान की तरह यहाँ भी उत्तराभिमुख नये ठाकुरवारी का निर्माण हुआ तथा इस बार का ठाकुरवारी मिट्टी का न होकर ईट एवं छत में लोहे की शहतीर आदि

से पटाई करके विस्तृत जगमोहन के साथ पक्का बना। राघवेन्द्र सरकार अब नये ठाकुरवारी में पधारे।

समय बीतने के साथ श्रीस्वामी जी श्रीवैष्णव परम्परा में प्रगाढ़ होते गये तथा प्रतिवर्ष दक्षिण भारत के तिरुमला तिरूपति कांचीपुरम, तथा श्रीरंगम् की यात्रा अवश्य करने लगे। धीरे धीरे तिरूमला तिरुपति के वेंकटेश भगवान से वे अधिक जुड़ गये।

फलत: ई० सन् १९७८ में सरौती में भी श्रीवेंकटेश भगवान के विग्रह को विधिवत् प्राणप्रतिष्ठा के साथ पधरवाया गया। नये विग्रह पूर्व से विराजते हुए राघवेन्द्र सरकार के साथ उसी गर्भगृह में उसी वेदी पर लक्ष्मण जी की वाई ओर विराज कर यक्तों को दर्शन देंगे। दर्शन की यही व्यवस्था आज भी यहाँ विद्यमान है।

भारत में मुगलों ने हिन्दु मन्दिरों तथा हिन्दु संस्कृति को सर्वाधिक क्षति पहुँचायी। हिन्दु मन्दिरों को तोड़फोड़ कर नष्ट किया गया तथा गाँव के गाँव हिन्दुओं को जबरन मुसलमान बनाया गया। मुगलों के अत्याचार ने सर्वाधिक उत्तर भारत को प्रभावित किया। दक्षिण में भी श्रीरंगम की व्यवस्था को इन लोगों ने नष्ट ही कर दिया था तथा हजारों की संख्या में वहाँ श्रीवैष्णव जन भगवान रंगनाथ की रक्षा में अपनी जान गवां दिये थे। उत्तर भारत में ऊँचे शिखर के साथ दूर से दिखने वाले मन्दिर को आसानी से चिह्नित कर नष्ट किया जाता था। परिणाम स्वरूप में यहाँ नये मन्दिरों के निर्माण में सावधानी बरती जाने लगी तथा मन्दिर भी आवासीय घरों की तरह बिना शिखर के बनने लगे। इसी शैली पर तरेत तथा सरौती के ठाकुरवारी भी बने थे। गर्भगृह के ऊपर मात्र एक बंगलानुमा संरचना बना दी जाती थी तथा उसमें सार्वजनिक प्रवेश वर्जित रहता था। श्रीस्वामी जी के ई सन् १९८० में महाप्रयाण के बाद सरौती के भक्त गण १९९० के दशक में सरौती के ठाकुरवारी में भी गर्भगृह के ऊपर शिखर आदि जोड़कर इसका जीर्णोद्धार किया। ठाकुरजी के गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर श्रीस्वामी जी की प्रतिमा भी स्थापित की गयी। इस तरह से श्रीस्वामी जी के काल के धरोहर संरचना में काफी परिवर्तन कर दिया गया।

हुलासगंज के स्वामी रङ्गरामानुजाचार्य जी श्रीस्वामी जी के सर्वोपरि विरक्त ख्यतिलब्ध शिष्य हैं। इन्होंने ई० सन् २०११ में श्रीस्वामी जी की पुरानी प्रतिमा के स्थान पर नयी मार्बल प्रतिमा की स्थापना करायी तथा जय विजय द्वारपाल एवं गरुड़ जी के प्रस्तर प्रतिमा को भी विधिवत् स्थापित कराया। जगमोहन के बाहर मन्दिर के शिखर की ऊँचाई के बराबर लगभग ७० फीट ऊँचा एक रेन्फोर्स्ड कंक्रीट के गरुड़ स्तम्भ का भी निर्माण हुआ।

●

व्रजभूमि की महिमा

श्रीभाष्यकार स्वामी रामानुजाचार्य के निकटतम अन्तरङ्ग शिष्य श्रीकुरेश स्वामी थे। वे परम मेधावी थे। श्रीभाष्य रचना काल में श्रीकुरेश स्वामी ने स्वामीजी को पूर्ण सहयोग किया था। वे भगवान के चरणों में सदा समर्पित रहते थे। श्रीभाष्यकार स्वामी श्रीकुरेशजी को जगत् कल्याण में सहयोगी समझते थे। भगवान श्रीराम और श्रीकृष्ण इन दो अवतारों का विशेष वैशिष्ट्य है। इन्हीं दोनों अवतारों में सौशील्य, सौलभ्य, वात्सल्य आदि भगवान के दिव्य गुणों का प्राकट्य हुआ है। श्रीकुरेश स्वामी ने भगवान के इन्हीं अवतारों के दिव्य गुणों का विशेष रूप से चिन्तन किया है। उन दो अवतारों में

भगवान के जिन दिव्य गुणों का चिन्तन किया है वे अतिमानुषस्तव नाम से प्रसिद्ध है। इस स्तोत्र से भगवान के उन दिव्य गुणों का चिन्तन किया है जो गुण मानव में सम्भव नहीं है। इसलिए उसका अतिमानुषस्तव नाम रखा गया है।

इस स्तव में श्रीकुरेश स्वामी ने वृन्दावन में भगवान श्रीकृष्ण के चरणकमलों से स्पर्शित परम-पवित्र रज की अपूर्व महिमा बतलायी है, जैसा उन्होंने अनुसन्धान किया है वैसा सभी भक्तों को अनुसन्धान करना चाहिए। अतिमानुषस्तव में चार श्लोकों से व्रज की परम पवित्र रज का विशेष महत्त्व बतलाया गया है—

(१) **गोवर्द्धनो गिरिवरो यमुना नदी सा**
वृन्दावनं च मथुरा च पुरी पुराणी।
अद्यापि हन्त सुलभाः कृतिनां जनाना-
मेते भवच्चरणचारजुषः प्रदेशाः।।

भगवान श्रीकृष्ण के चरण से पवित्र गिरिराज गोवर्द्धनपर्वत, यमुनानदी, वृन्दावन, प्राचीन पुरी मथुरा–ये सब आज भी भाग्यवान पुरुषों को ही दर्शन के लिए सुलभ हैं। ये सब स्थान भगवान के परम सुन्दर चरण-कमलों से विशेष सेवित होने से परम प्रिय हैं।

(२) **वृन्दावने स्थिरचरात्मककीटदूर्वा-**
पर्यन्तजन्तुनिचये बत मे तदानीं।
नैवालभामहि जनिं हतकास्त एते
पापाः पदं तव कदा पुनराश्रयामः।।

श्रीकुरेश स्वामी ने भगवान से कहा हे प्रभो! नित्यधाम वृन्दावन में आप आवरण रहित (विना खडाऊँ, जूते आदि के) चरणों से सर्वत्र विचरण किये हैं। उस समय जिन जड़-चेतन, क्षूद्र कीट, दूबपर्यन्त जीवों का आपके-चरणों से स्पर्श हुआ है वे सब परमपद में चले गये; परन्तु उस अवसर पर हमारा कीट आदि जीवों तथा दूर्बा आदि जड़ों में भी जन्म नहीं हुआ था, इसलिए हमारी आत्मा का उद्धार नहीं हुआ, बल्कि हमारी आत्मा का नाश ही हुआ है। वही पापी हम आपके दिव्य चरणकमलों का कब आश्रित होंगे।

(३) **हा जन्म तासु सिकतासु मया न लब्धं**
रासे त्वया विरहिता किल गोपकन्या।
या स्तावकीनपदपङ्किजुषो जुषन्तः
निक्षिप्य तत्र निजमङ्गमनङ्गतप्तम्।।

हे करुणानिधि प्रभो! महारासलीला के समय रात्रियों में आपने अन्तर्धान होकर जिन गोपियों का त्याग किया था, वे सब गोपियाँ आपके विरह में काम-पीड़ित होकर अपने अङ्गों में आपके चरण से स्पर्शित रज को लगाकर विरहज्वर को शान्त की थीं। हाय! उस समय हम उस रज में एक रजकण होकर भी क्यों नहीं जन्में? व्रज में आपके चरण रजकण के सम्बन्ध से भी मुक्ति हो जाती है, अतः आप उसी का सम्बन्ध करा देते।

(४) **आचिन्वतः कुसुम मङ्घ्रिसरोरुहन्ते**
ये भेजिरे बत वनस्पतयो लता वा।
अद्यापि वत्कुलभुवः कुलदैवतं मे
वृन्दावनं मम घियश्च सनाथयन्ति।।

वृन्दावन में फूलों को चुनते समय आपके चरणों को जिन लताओं अथवा वनस्पतियों ने प्राप्त किया है, उनके वंश में उत्पन्न आधुनिक लतायें एवं वृक्षादि आज भी वृन्दावन की धरती तथा मेरी बुद्धि को परिष्कृत कर रहा है। उन वृन्दावन के वृक्षों एवं लताओं से भी मेरा सम्बन्ध हो जाय तो मेरी मुक्ति निश्चित हो जाय। आज भी वृन्दावन के लता, वृक्षादि उनके वंश में उत्पन्न हुए हैं, जिन्हें आपके अवतार काल में चरणों का स्पर्श प्राप्त हुआ है। अतः यदि आज भी मेरा जन्म किसी प्रकार उनमें हो जाय या उनसे मेरा सम्बन्ध हो जाय तो मेरा कल्याण अवश्य हो जायेगा।

नामरूप व्याकरण श्रुति का भावार्थ

(गताङ्क से आगे)

'हन्ताऽहमिमास्तिस्त्रो देवताः अनेन जीवे-
नात्मनाऽनुप्रविश्यनामरूपे व्याकरवाणी'।

श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने यह कहा है कि लोक में यह देखा जाता है कि शरीर आत्मा का आश्रय लेकर रहता है तथा आत्मा शरीर का आधार बनकर रहता है। इनमें आत्मा विशेष्य तथा शरीर प्रकार अर्थात् विशेषण बनकर रहता है; क्योंकि यह मनुष्य है इस व्यवहार का यही अर्थ है कि यह मनुष्य शरीर वाला है। इस प्रतीति में मनुष्य शरीर प्रकार अर्थात् विशेषण के रूप में तथा आत्मा विशेष्य के रूप में प्रतीत होता है। आधार वस्तु को विशेष्यरूप में प्रतीत होना तथा आधेय वस्तु को विशेषणरूप में प्रतीत होना उचित ही है; क्योंकि ऐसा ही सर्वत्र देखा गया है। यह घट शुक्ल है, इस प्रतीति को ले लिया जाय। इस प्रतीति में आधार घट विशेष्यरूप में तथा घट का आश्रय लेकर रहने वाला आधेय शुक्लरूप विशेषण-रूप में भासित होता है। शुक्ल शब्द का अर्थ शुक्लरूप वाला है। यह गौ है, इस प्रतीति को ले लिया जाय। इस प्रतीति में जाति का आधार बनने वाला व्यक्ति विशेष्यरूप में तथा उसका आश्रय लेकर रहने वाली गोत्वजाति विशेषण रूप में भासित होती है। गोशब्द का अर्थ गोत्वजाति विशेषण रूप में भासित होती है। गोशब्द का अर्थ गोत्वजाति वाला व्यक्ति ही है। ***'यस्यात्मा शरीरम्'*** यह श्रुति बतलाती है कि जीवात्मा परमात्मा का शरीर है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा जीव का अन्तर्यामी है इसलिये जीव ब्रह्मात्मक सिद्ध होता है। जीवात्मा सदा अपने अन्दर परमात्मा को अन्तर्यामी के रूप में लेकर ही रहता है। ये ब्रह्मात्मक जीव उन शरीरों के अन्दर आत्मा के रूप में रहते हैं जो शरीर देव मनुष्य आदि शब्दों से जीवों के प्रति विशेषण के रूप में अभिहित होते हैं। शरीरवाचक शब्द शरीर मात्र में ही विश्रान्त न होकर आत्मा तक का प्रतिपादन करते हैं यह बात देव मनुष्य आदि शब्दों में देखी गई है; क्योंकि वे शब्द देव मनुष्य आदि शरीर वाले जीवात्माओं का प्रतिपादन करते हैं। ये जड़ पदार्थ जीवात्मा का शरीर है, जीवात्मा परमात्मा का शरीर है।

जिस प्रकार जीवात्मा ब्रह्मात्मक हैं, उसी प्रकार ये जड़ पदार्थ भी ब्रह्मात्मक हैं। प्रकृति और प्रत्ययों से युक्त होकर विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन करने वाले देव, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, पशु, मृग, पक्षी, वृक्ष, तला, काष्ठ, शिला, तृण, घट और पट इत्यादि सभी शब्द उन अर्थों को लोक में जो इनके वाच्य हैं—बतलाते हुए उन विचित्र सन्निवेश वाले जड़ पदार्थों के अन्दर रहने वाले अभिमानी जीवों को बतलाकर उनके अन्दर रहने वाले अन्तर्यामी परमात्मा तक का बोध कराते हैं। प्रत्येक शब्द इस समुदाय का जिसमें जड़ पदार्थ उनके अन्दर रहने वाले जीव एवं अन्तर्यामी परमात्मा का समावेश होता है ही प्रतिपादन करते हैं। घट शब्द घटरूपी जड़ पदार्थ उनके अन्दर रहने वाले जीव एवं उसके अन्दर रहने वाले अन्तर्यामी परमात्मा तक का प्रतिपादन करता है। ऐसे ही सब शब्दों के विषय में भी समझना चाहिये। इस प्रकार सभी शब्द जड़, जीव एवं ईश्वर तक का प्रतिपादन करें, तदर्थ ही ईश्वर जीवों के द्वारा समष्टितत्त्वों में प्रविष्ट होकर नामरूप व्याकरण अर्थात् व्यष्टिसृष्टि का निर्माण करते हैं।

भगवान के गुणों की दिव्यता

श्रीवैष्णवाचार्यों ने तीन रत्न स्वीकार किया है–मन्त्ररत्न, पुराणरत्न और स्तोत्ररत्न। मन्त्रों में द्वयमन्त्र रत्न है। पुराणों में श्रीविष्णुपुराण रत्न है और स्तोत्रों में आलवन्दार स्तोत्र रत्न है। आलवन्दार स्तोत्र श्रीयामुनमुनि ने निर्माण किया है जो समस्त वेदान्तदर्शन का सार है। समस्त वेदान्तार्थ को श्रीयामुनमुनि ने स्तोत्र के माध्यम से भावुक भक्तों को दिया है।

स्वादयन्निह सर्वेषां त्रय्यन्तार्थं सुदुर्ग्रहम्।
स्तोत्रयामास योगीन्द्रस्तं वन्दे यामुनाह्वयम्।।

श्रीयामुनाचार्य जी ने स्तोत्ररत्न के १८वें श्लोक से भगवान के ११ गुणों का वर्णन कर उन्हें स्वभावतः समस्त गुणों का समुद्र कहा है। वे १८वाँ श्लोक ये है—

वशीवदान्यो गुणवानृजुः शुचि-
र्मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः
समस्तकल्याणगुणामृतोदधिः ।।

(१) वशी—निघण्टुकोश में वश शब्द जन, स्पृहा, यत्न, आयतत्त्व और प्रभुत्व अर्थ में कहा गया है। समस्त चराचर जगत् भगवान के वश में हैं और भगवान भक्तों के वश में हो जाते हैं आश्रितों के अधीन होने के कारण सौलभ्य गुण भगवान में है। इसलिए भगवान ने गीता में कहा है कि 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्' प्रेमपूर्वक जो मेरा भजन करते हैं वे मुझमें वास करते हैं और मैं उनमें वास करता हूँ अर्थात् मेरे भजन के विना जो भक्त एक क्षण भी अपने शरीर को धारण नहीं कर सकता है उसके विना मैं भी एक क्षण नहीं रह सकता हूँ।

भगवान श्रीराम ने विश्वामित्र से कहा हम दोनों भाई आपकी सेवा में उपस्थित हैं—***'किंकरौ समुपस्थितौ'*** पाण्डवों का दूत बनना, अर्जुन का सारथि बनना ये भगवान की भक्तवत्सलता का उदाहरण है।

(२) वदान्यः—जिसकी वाणी प्रिय होती है जो दानशील हैं–ये दोनों वदान्य कहे जाते हैं। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी–ये सभी भक्तों के प्रति भगवान वदान्य हैं। उन सबको अपने प्रिय वचन से सन्तुष्ट कर देते हैं और उन भक्तों की जो माँग होती है उसे दान कर देते हैं। जैसे–ध्रुव, प्रह्लाद, गजेन्द्र, द्रौपदी आदि भक्तों को भगवान ने वचनों द्वारा सन्तुष्ट कर उनकी माँगों को पूर्ण किया। भगवान अनेक नित्य चेतनों को अपेक्षित वस्तुओं को विना आयास प्रदान किए हैं। ऐसा उपनिषद् में कहा गया है। नारदजी ने पुण्डरीक से कहा है कि हे ब्राह्मणोत्तम! तुम भी नारायण का भजन करो। उनसे दूसरा कोई उदार नहीं है। जो पार्थिव वस्तु देने में सर्वथा समर्थ हैं। विष्णुधर्म में कहा है कि सभी फलों को देने वाले विष्णु हैं, जो वस्तु दुर्लभ है उसे भी भगवान प्राप्त करा देते हैं। भगवान ने स्वयं कहा है कि जो एक करोड़ अश्वमेध यज्ञ करता है वह भी मेरे भक्त के समान पद प्राप्त नहीं करता।

(३) गुणवान्—यहाँ गुण शब्द से सौशील्य गुण लिया गया है। महान् लोगों का मन्दलोगों के विना विच्छेद, संश्लेष, स्वभाव को सौशील्य कहते हैं। भगवान निषादराजगुह, शबरी आदि से निश्छल भाव से मिले।

भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत्।
दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः ।।
(वा०रा०)

शृङ्गवेरपुर में श्रीराम ने अपनी दोनों भुजाओं से निषादराजगुह को पकड़ कर अच्छी तरह आलिङ्गन किया। अर्थात् अपनी छाती से लगाया और उससे कहा कि सौभाग्य की बात है कि मैं आज तुम्हें बन्धु-बान्धवों के साथ स्वस्थ एवं सानन्द देख रहा हूँ।

भगवान् श्रीराम पम्पासरोवर के पश्चिम तट पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने शबरी का परमपवित्र रमणीय आश्रम को देखा। आश्रम पर शबरी से मिले। शबरी उन दोनों भाइयों के दर्शन कर प्रेम विभोर हो गयी और उसने उनके चरणों में प्रणाम किया। उसने पाद्य, अर्घ्य, आचमन आदि से भगवान श्रीराम का विधिवत् पूजन किया।

भगवान श्रीकृष्ण ने वृन्दावन में ग्वालबालों के साथ मिलकर खेला-कूदा, उन्हें अपने हृदय में लगाया, यहाँ भी भगवान ने अपने सौशील्य गुण का परिचय दिया।

(४) ऋजु—आश्रितों के प्रति मन, वचन और शरीर की व्यापार को एक रूप में रखना अर्थात् जो मन में सोचे उसे वाणी द्वारा व्यक्त करे और उसे ही अपने शरीर द्वारा करे, उसको ऋजु कहते हैं। इससे भगवान का विश्वास करने योग्य स्वभाव व्यञ्जित होता है। दण्डकारण्य में ऋषियों ने राक्षसों से बचाने के लिए भगवान श्रीराम की शरणागति की। श्रीराम ने ऋषिद्रोही राक्षस-वध के लिए सङ्कल्प लिया। जगज्जननी सीताजी उस कर्म से वञ्चित होने के लिए श्रीराम से प्रार्थना की। भगवान श्रीराम ने कहा कि मैं अपना जीवन छोड़ सकता हूँ, लक्ष्मण के साथ तुमको त्याग सकता हूँ; परन्तु तपस्यिों के प्रति किये हुए प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ूँगा।

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न तु प्रतिज्ञा संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।।

(वा०रा०-३.१.१८)

भगवान श्रीकृष्ण ने द्रौपदी से कहा—हे द्रौपदि! आकाश गिर सकता है, पृथ्वी शीर्ण हो सकती है, हिमालय टुकड़ा-टुकड़ा हो सकता है, समुद्र सुख सकता है; परन्तु मेरा वचन व्यर्थ नहीं हो सकता।

द्यौः पतेत् पृथिवी शीर्येत् हिमवान् शकलो भवेत्।
शुष्येत तोयनिधिः कृष्णे! न मे मोघं वचो भवेत्।।

आलवन्दार स्तोत्र की संस्कृत टीका लिखने वाले श्री वेदान्तदेशिक ने कहा है कि आश्रितों की इच्छा के अनुसार स्थिति बनाये रखना ही भगवान का ऋजुत्व है।

(५) शुचिः—आश्रितों के रक्षा करने में उनसे प्रत्युपकार की अपेक्षा न करना अथवा द्रव्य की अधिकता या न्यूनता के प्रति ध्यान न देकर भक्तिमात्र से प्रसन्न होने का स्वभाव ही भगवान का शुचित्व है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि भक्तों द्वारा प्रेमपूर्वक लाया हुआ अणु भी मेरे लिए महान होगा। अभक्तों से उपहार किया हुआ अधिक वस्तु भी सन्तोषजनक नहीं होगा। विना प्रेम के रत्नों से पूर्ण भूमण्डल को अर्पित करने पर भगवान श्रीकृष्ण उसे स्वीकार नहीं करते हैं।

भक्तैरणवप्युपानीतं प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्।
युर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।।

(भा०१०.८१.३)

अथवा शुचि का अर्थ है–परमपवित्र। इसलिए विष्णुसहस्त्रनाम में ***'पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्'*** ऐसा कहा है। स्नान किया हुआ हो अथवा स्नान न किया हुआ हो, शुचि हो अथवा अशुचि हो जो पुण्डरीकाक्ष का स्मरण करता है वह बाहर, भीतर से पवित्र हो जाता है। जिस भगवान के स्मरण करने से सभी अवस्था में भक्त पवित्र हो जाता है वह भगवान स्वयं पवित्र हैं।

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचि।।

(क्रमशः)

श्रीविष्णुसहस्त्रनाम के प्रारम्भ से ३५ नामों का विशद् भाष्य (हिन्दी में)

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसार बन्धनात् ।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ।।

महर्षि वेदव्यास प्रणीत महाभारत में महाराज युधिष्ठिर तथा भिष्मपितामह के संवाद रूप में श्रीविष्णुसहस्त्रनाम दिया गया है। वह श्रीविष्णु-सहस्त्रनाम में एक हजार भगवान के नाम हैं। महाभारत से लेकर श्रीविष्णुसहस्त्रनाम की पुस्तक प्रकाशित की गयी है। इस श्रीविष्णुसहस्त्रनाम के पाठ की अपूर्व महिमा है। श्रीविष्णुसहस्त्रनाम से भगवान का स्तवन किया जाता है। श्रीरङ्गम्, काञ्चीपुरम्, तिरुपति, द्वारिका, वद्रीनाथ, जगन्नाथपुरी आदि सभी भगवान के मन्दिरों में, श्रीभगवान की प्रसन्नता के लिए श्रीविष्णुसहस्त्रनाम का पाठ किया जाता है। दक्षिण भारत से उत्तर भारत तक कोई भी भगवान का ऐसा मन्दिर नहीं है जहाँ श्रीविष्णु-सहस्त्रनाम का पाठ नहीं होता हो प्रतिदिन इसका पाठ करने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है। रोगी का रोग दूर करने के लिए, कारागार आदि बन्धन से छूटने के लिए सब प्रकार के भय से बचने के लिए, बड़ी से बड़ी विपत्ति से मुक्ति के लिए श्रीविष्णुसहस्त्रनाम का—

रोगार्तो मुच्यते रोगाद्बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।
भयान्मुच्येत् भीतस्तु मुच्येतापन्नापदः ।।

इस श्लोक से सम्पुट पाठ करे या किसी पण्डित से कराये। दिव्यदेशों में भगवत् प्रसन्नता के लिए उनके चरणों में सहस्त्रनाम से तुलसी समर्पित की जाती है। गया विष्णुपद में भगवान के शयन से पूर्व श्रीविष्णुसहस्त्रनाम से तुलसी से अर्चना होती है। इस तरह श्रीविष्णुसहस्त्रनाम की अपूर्व महिमा है। दक्षिण भारत के श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य पराशरभट्ट जी ने भगवद्गुणदर्पण नामक संस्कृत में बृहद् भाष्य की रचना की है।

श्रीराम संस्कृत महाविद्यालय, सरौती के भूतपूर्व प्राचार्य पं० श्रीमाधव शर्मा जी ने भगवद्गुणदर्पण के आलोक में श्रीविष्णुसहस्त्रनाम का हिन्दी भाष्य सभी भक्तों के कल्याणार्थ किया है। उसके आधार पर श्रीविष्णुसहस्त्रनाम के कुछ नामों का अर्थपूर्वक पत्रिका में भक्तों के लाभ के लिए प्रकाशित किये जा रहे हैं—

विश्वं विष्णुर्वषट्कारः भूतभव्यभवत्प्रभुः।
भूतकृत्भूतभृद्भावो भूतात्मा भूतभावनः।।

१. विश्वम्—विश प्रवेशनेधातुः कुन् प्रत्ययः। वि-शति अवयवान् वेशनात् विश्वमित्याहुः लोकांश्च-विश्वमेवेति।

विश्व शब्द ब्रह्मविशेष्याभिप्रापक होने से नपुंसक लिङ्ग एवं संज्ञा होने से इसमें (व्याकरण नियमानुसार) सर्वनाम संज्ञा का अभाव है। ऊपर के विग्रह के अनुकूल विश्व के कण-कण में भगवान की व्यापकता है। अतः यह भगवान को पूर्णताबोधक संज्ञा है। विश्व का प्रचलित अर्थ है–संसार या जगत्। संसरणशील मिट्टी से घड़ा बनता है और टूटने-फूटने पर वह मिट्टी में ही मिल जाता है। सारे जड़ पदार्थ इसी प्रकार बदलते रहते हैं। चेतन जीवों में भी ज्ञान का सङ्कोच विकास होते रहता है। इस प्रकार जगत् परिवर्तनशील है। इसका प्रत्येक पदार्थ देशकाल और वस्तु की सीमा में बन्धा हुआ है इसलिये यह अपूर्ण है। विश्व शब्द में न परिवर्तनशीलता का भाव है न अपूर्णता का। लोक व्यवहार के कारण जो विश्व शब्द को जगत् का वाचक मानते हैं वे भी इस बात को मानते हैं कि विश्व भगवान का एक नाम है। कार्यवाचक शब्द से कारण का भी ग्रहण होता है। सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म कारण और

स्थूल चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म कार्य है। अन्त में प्रलय के समय कार्य अपनी स्थूलता छोड़कर सूक्ष्म रूप में विलीन हो जाता है और पुन: यथा समय व्यक्त हो जाता है। अत: यही कहा जाता है कि जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है और उसी में विलीन भी हो जाता है। इसीलिये विश्व शब्द ब्रह्मबोधक हुआ। वस्तुत: विश्व शब्द भगवान् का परिपूर्णता-बोधक नाम है। भगवान् अनादि अनन्त एवं नित्य हैं, पूर्ण हैं। इनका स्वरूप गुण तथा वैभव सभी पूर्ण है। यही पूर्णता का द्योतक विश्व शब्द है। भगवान् के एक अंश में ही विश्व स्थित है **एकांशेन स्थितो जगत्।** वे जगत् के प्रत्येक अवयव में प्रविष्ट हैं ऐसा ही विश्व शब्द का विग्रह भी है। विश्व के कण-कण में व्यापकता के कारण ही विश्व शब्द सभी नामों में प्रथम ही रखा गया है। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** यह सब नि:सन्देह ब्रह्म ही है। **ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्** यह विश्व परमोत्कृष्ट ब्रह्म है पुरुषएवेदं विश्वम् यह विश्व ब्रह्म ही है। **तत्सृष्ट्वातदेवानु प्राविशत्।** विश्व की रचना कर ब्रह्म उसमें प्रविष्ट हो गया है। सर्वथा विश्व शब्द ब्रह्म की परिपूर्णताबोधक प्रथम संज्ञा है, अन्यान्य सभी नाम इसी की व्याख्या-स्वरूप हैं।

२. विष्णु—सर्वं विशति स्वविभूति भूतं चिदचिदात्मकं विशति = व्याप्नोप्ति विश् प्रवेशनेधातु: इष्णुच् प्रत्यय: पृषोदरादित्वात्साधु। आत्मा (विशेष्यात्मकत्वात् पुंस्त्वम्)।

ऊपर के नाम से व्यक्त हो चुका है कि भगवान परिपूर्ण हैं और सारे जगत् में अन्त:प्रविष्ट हैं। वे किस प्रकार इस जगत् में अन्त:प्रविष्ट हुए? इसका उत्तर विष्णु नाम में है।

चराचरेषुभूतेषु वेशनात् विष्णुरुच्यते।
व्याप्य सर्वानिमान् लोकान् स्थित तत्र केशव: ।।

'ततश्च विष्णुनामासि विशधातो: प्रवेशनात्' (हरिवंशे) विष्णु शब्द का अर्थ हुआ कि भगवान सम्पूर्ण चिदचिदात्मक जगत् में प्रवेश करते हैं, अत: यह उनकी संज्ञा है। सहस्त्रनाम में एक शब्द अनेक बार आए हैं, किन्तु अर्थ भेद एवं व्यापकत्व और पूर्णत्व को लेकर है, अत: पुनरुक्ति दोष नहीं लगता है।

३. वषट्कार:—सर्वं वशं करोति, वशकान्तौ धातु: अट् प्रत्यय: षत्वे च कृञ् धातो अण् प्रत्ययश्च ''सर्वस्यवशी सर्वेशान:''।

भगवान् सबों को स्वेच्छानुवर्ती बना लेते हैं, सबों के ईश्वर हैं। सम्पूर्ण जगत् उनके वशवर्ती है। सबों को वशवर्ती बनाना ही वषट्कार संज्ञा का निमित्त है। भगवान के व्यापक होने के प्रयोजन वषट्कार नाम से प्रकट है। विष्णु और वषट्कार इन दोनों नामों का सम्बन्ध वेद से है। वेद का सम्पूर्ण कर्मकाण्ड यज्ञपरक है और वषट्कार यज्ञ की एक प्रक्रिया है। **'यज्ञो वै विष्णु:'** के अनुसार यज्ञ साधन के परमलक्ष्य विष्णु हैं, वे प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं इसमें सभी पुराण एकमत हैं।

४. भूतभव्यभवत्प्रभु:—भूत = भूतकाल:, भव्य = भविष्यकाल: भवत् वर्तमानकाल कालत्रयवर्तिनाम प्रभु: स्वामी। प्रभु: इत्यत्र प्रपूर्वक भू धातो: डु प्रत्यय:। घुष्यन्ति हि शास्त्राणि पतिं विश्वस्य, भूतस्यजात: पतिरेक आसीत्। भूतभव्यभवन्नाथ: केशव: केशि-सूदन:।

भगवान् सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं, शेषी हैं। इस जगत् में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसका वे स्वामी न हों। उनका यह स्वामित्व किसी एक काल तक सीमित नहीं है अपितु तीनों काल में वे सबों के स्वामी हैं।

५. भूतकृत्—भूतानि करोति इति भूतकृत्। भूतपूर्वक कृञ् धातो: क्विप् तुक्।

जो है, जो होना है, अथवा जो हो चुका है उसे भूत कहते हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल,

और पृथिवी ये पांच भूत हैं अर्थात् भौतिक तत्त्व हैं। समस्त प्राणियों के शरीर इन्हीं पाँच भौतिक तत्त्वों द्वारा निर्मित होने के कारण पाँच भौतिक कहलाते हैं। जो प्राणी पांच भौतिक तत्वों से युक्त हैं उनको भी भूत कहते हैं। श्री कृष्ण ने गीता में सभी भूतों को क्षर से सम्बोधन किया है **क्षरः सर्वाणि भूतानि**। अचेतन तत्व नित्य है, चेतन तत्व भी नित्य है भगवान इनकी रचना नहीं करते। प्रलयकाल में अचेतन तत्व सूक्ष्म रूप में रहते हैं सृष्टि की दशा में स्थूल रूप ग्रहण करते हैं। ऐसी स्थिति में कर्म बन्धन से बन्धे चेतनों की शरीर योजना ही यह रचना है जिससे उनकी भूतकृत् संज्ञा हुई। यह ध्यान रखना है कि इस कार्य में वे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं।

६. भूतभृत्—भूतानिविभर्ति धारण पोषणार्थक भृज् धातुः पूर्ववत् क्विप् तुक् प्रत्ययः।

भगवान केवल भूतकृत् (सृष्टिकर्त्ता ही नहीं हैं) अपितु समस्त प्राणियों का भरण-पोषण भी करते हैं। भूतभृत् प्राणियों का पोषण करने वाला यह उनका नाम है।

७. भावः—स्वविभूतिभिर्विशिष्टतया भवति इति भावः। सत्तार्थक भूधातोः ण प्रत्ययः।

वे सत्तावान् तो हैं ही अपनी सम्पूर्ण विभूतियों से युक्त होने के कारण विभूतिमान भी हैं। जिस प्रकार मयूर अपने पंखों से सदैव युक्त रहते हुए भी कभी अपना पंख फैलाकर दर्शकों को प्रभावित करता है और कभी समेट भी लेता है, उसी प्रकार भगवान् की विभूति स्थूल रूप में दृष्टिगोचर होती है और कभी सूक्ष्म रूप में रहती है।

८. भूतात्मा—भूतानामात्मा षष्ठी समासः। ''यः पृथिव्यां तिष्ठन्'' ''य आत्मनि निष्ठन्'' ''यस्य पृथिवी शरीरम्'' ''यस्यात्मा शरीरम्''।

शरीर में जैसे चेतन आत्मा है उसी प्रकार भगवान् समस्त चेतन एवं अचेतन तत्त्वों के आत्मा हैं। ऊपर के उदाहरणों में जिसका आत्मा शरीर है। जो पृथिवी में रहता है, आत्मा में रहता है इससे स्पष्ट है कि वे सबों की अन्तरात्मा हैं। वा० रामायण, विष्णुपुराण, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में स्पष्टतया चेतनाचेतन के शरीरभाव और भगवान् के आत्मभाव का विशद् वर्णन है।

९. भूतभावनः—भूतानि भावयति = भूधातुः ण्यन्तः ल्युट् प्रत्ययः। सर्वाणि भूतानि धारकपोषक-भोग्य प्रदानेन वर्धयति।

भगवान् समस्त भूतों के प्रति उनकी सत्ता की भावना रखते हैं। धारण पोषण के रूप में प्राणियों को संवर्धन करते हैं। अर्जुन ने भी उन्हें भूतभावन द्वारा सम्बोधन किया है। भूतकृत् से लेकर भूत-भावन तक ये पांच ऐसे नाम हैं। जिनसे भगवान् का शेषी होना तथा इस जगत् का उनका शेषभूत होना स्पष्टतया प्रतीत होता है। यदि जगत् में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य चेतनाचेतनों का अस्तित्त्व नहीं होता तो ये नाम सार्थक नहीं हो सकते थे। चेतन एवम् अचेतन भगवान् के शरीर हैं तथा भगवान् उनकी आत्मा हैं। आत्मा शरीर का आधार नियन्ता और शेषी है। चेतन एवं अचेतन तत्वों से भगवान् का ऐसा सम्बन्ध है। इतना ही नहीं, इन चेतनाचेतनतत्वों का स्वरूप स्थिति एवं प्रकृति भगवान् के अधीन रहती है।

पूतात्मा परमात्मा च मुक्तानां परमा गतिः।
अव्ययः पुरुषः साक्षी क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च।।

१०. पूतात्मा—पूतः आत्मा यस्य, पुञ् धातु क्त प्रत्ययः।

भूतात्मा, भूतभावन शब्दों के द्वारा यह स्पष्ट हो चुका है कि भगवान् शरीरी, आत्मा हैं और जगत् उनका शरीर है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भगवान् जगत् के गुण दोषों से कहाँ

तक प्रभावित होते हैं? पूतात्मा यह नाम उत्तर देता है। भगवान् पूतात्मा हैं उनकी आत्मा पवित्र है। जिस प्रकार चेतन जीवात्मा शारीरिक गुण दोषों से सम्बद्ध रहता है उसी प्रकार परमात्मा जगत् के गुण दोषों से नहीं बन्धते हैं। चेतन जीव शरीर के द्वारा कर्म करता है और कर्म फल भोगता है। परमात्मा की स्थिति इससे भिन्न है। उनका अपना प्रभाव है जिससे वे शुभ एवं अशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते।

अनश्नन्यो अमिचाकशीति परब्रह्म भोग नहीं भोगता और प्रकाश देता है। **न मां कर्माणि लिम्पन्ति** मुझे कर्म फल नहीं बान्धता। **परावरयोः तुल्यत्वेऽपि शरीरसम्बन्धे अवर एवात्मा कर्मफलानि भुञ्जानः क्लिश्यते।** जीव और ब्रह्म में नित्यत्त्वेन समानता रहने पर भी जीवात्मा शरीर सम्बन्ध से कर्मफल भोगता हुआ दुःखी होता है। परमात्मा केवल साक्षीस्वरूप देखता रहता है, यही उनकी विशेषता है।

११. परमात्मा—परो मा अस्य परमः (पृषोदरादित्वात् साधुः) अत् गत्यर्थकधातुः मनिन् प्रत्यय द्वारा आत्मा परमश्चासौ आत्मा च। यथा सर्वाणि भूतानि अनेन आत्मवन्ति नैवमययन्येन केनचित्।

शङ्का हो सकती है कि जिस प्रकार समस्त भूतों के आत्मा भगवान् हैं उसी प्रकार उनका आत्मा दूसरा कोई तो नहीं है। जो विष्णु के परत्व में सन्देह करते हैं वे इसी प्रकार शङ्का उठाया करते हैं। परमात्मा नाम से इस शङ्का का समाधान कर दिया है। उक्त विग्रह में परम शब्द का अर्थ हुआ कि जिनसे दूसरा परे नहीं है अर्थात् उनके सदृश जैसे वे सभी चेतनाचेतनों के आत्मा हैं वैसे उनकी आत्मा अन्य कोई नहीं है। भगवान् सबसे उत्कृष्ट और सबों की आत्मा है। परमश्च असौ आत्मा च यह भी समास सम्भव है। सर्वोत्कृष्टता में सैकड़ो वचन हैं—**नतत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते, यस्मात्परतरं नास्ति कञ्चन, न देवो केशवात् परः मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति** इत्यादि।

१२. मुक्तानां परमागतिः—मुक्तानां = प्रकृतिबन्धाविद्याकर्मसंस्काररुचि विपाकेभ्यः आवरणेभ्य एकान्ततोऽत्यन्तश्च विश्लिष्टा मुक्ताः तेषां परमा = उत्कृष्टाः गतिः परमप्राप्यः। गति इत्यत्र गमधातुः कर्मणि क्तिन् प्रत्ययः गम्यते प्राप्यते इति गति।

प्रकृतिबन्धन अविद्या कर्मादि से उत्पन्न आवरण से रहित आत्मा को मुक्त कहते हैं। भगवान् मुक्त पुरुषों की परमगति हैं। इस नाम से व्यक्त होता है कि मुक्त असंख्य है; क्योंकि मुक्तानां में बहुवचन है। मुक्त पुरुषों की परमगति भगवान् हैं इससे यह भी बोध होता है कि मुक्त भगवान् से पृथक् ही रहते हैं दोनों में भेद स्पष्ट है। मुक्त होने पर भी स्वरूपतः वे बने रहते हैं। इन मुक्त-पुरुषों की स्थिति आगे पांच नामों में मिलता है।

१३. अव्ययः—न वीयते = न व्यपगम्यते अस्मादित्यव्ययः। विपूर्वक इण् गत्यर्थक धातुः अच् प्रत्ययः।

भगवान् स्वयं तो अव्यय हैं ही। उनमें कोई विकार कभी सम्भव नहीं है। उनकी नित्य विभूति में भी कोई विकार नहीं होता। कर्म बन्धन से मुक्त होकर जीवात्मा भगवान् की नित्य विभूति परमधाम में भगवान् को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् इन मुक्त पुरुषों को सदा के लिये अपने परमधाम में स्थान देते हैं इन्हें कभी पुनर्जन्म के चक्र में पड़ने नहीं देते। मुक्तपुरुष वैकुण्ठधाम से कभी नहीं लौटते हैं।

प्राप्नोति परमं स्थानं यत्प्राप्य न निवर्तते। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परं मम इसलिये वैकुण्ठधाम के सर्वस्व भगवान् अव्यय कहलाते हैं।

१४. पुरुषः—पुरु = बहु सनोति षणुदानार्थकः धातु ड प्रत्ययः।

भगवान् अपने भक्तों के लिये अधिकाधिक वाञ्छित वस्तु के अतिरिक्त भगवत्सम्बन्धी रूप गुण

वैभव भरपूर प्रदान करते हैं, जिसे वाणी और मन से सीमित नहीं किया जा सकता है न वाणी उन गुणों, उस वैभव तथा उस अनुभव का वर्णन करने में समर्थ होती है और न मन उन तक पहुँच पाता है।

मुक्तेभ्यस्स्वात्मपर्यन्त दानात् पुरुष ईरितः ।

१५. साक्षी—साक्षात् अव्ययात् साक्षाद्रष्टरि संज्ञायाम् इति इनि प्रत्ययः। अव्ययानां भमात्रे टिलोपः। साक्षात् करोति इति विग्रहः साक्षात् द्रष्टा साक्षी।

जो मुक्तपुरुषों की परमगति हैं, जो नश्वर जगत् में उनको लौटने नहीं देते तथा उनको भरपूर आनन्द प्रदान करते हैं वे सभी के साक्षी हैं, वे सर्वद्रष्टा हैं। किसी के माध्यम से नहीं प्रत्युत स्वयं ही सभी का साक्षात् करते हैं। वे तो मुक्तपुरुषों के आनन्दानुभव में विशेष तृप्तिका अनुभव करते हुए उनका साक्षात्कार करते हैं।

१६. क्षेत्रज्ञः—क्षेत्रंज्ञानातीति क्षेत्रपूर्वक् ज्ञा धातो कः प्रत्यय।

क्षेत्रं तु परम व्योम् मुक्तेभ्यो वेत्ति नित्यशः ।
दातुं स्वानुभवं यश्च क्षेत्रज्ञः स तु कथ्यते ।।

जीवात्मा की दृष्टि से शरीर क्षेत्र कहाता है और जीवात्मा क्षेत्रज्ञ। इसका अर्थ होता है क्षेत्र को जानने वाला। जब तक कर्मों का बन्धन जीवात्मा को जकड़े रहता है तब तक वह शरीर को नहीं जान पाता। मुक्ति होने पर निश्चय ही वह क्षेत्र को पूरी तरह जान पाता है। ध्यान रहे कि उसके इस ज्ञान का आधार भगवान् ही हैं। अतः परमार्थतः भगवान् ही क्षेत्रज्ञ हैं। वर्तमान् जगत् भगवान् का लीला क्षेत्र है इसे वे जानते हैं। नित्य विभूति उनका नित्य क्षेत्र है जिसे मुक्त पुरुष प्राप्त करते हैं। भगवान् इस क्षेत्र के भी ज्ञाता हैं।

१७. अक्षरः—न क्षरति क्षर सञ्चलने भ्वादि धातु से पचाद्यच् प्रत्यय होकर नञ् समास में अक्षर शब्द सिद्ध होता है।

सदानुभूयमानोऽपि निस्सीम गुण गौरवात् ।
मुक्तै क्वचिन्नक्षरति अक्षरः परिकीर्तितः ।।

भगवान् अनादि अनन्त हैं उनका गुण गौरव असीम है। नित्य मुक्त जनों के द्वारा सदैव अनुमान का विषय बने रहने पर भी भगवान् का गुण गौरवादि क्षीण नहीं होते बल्कि नित्य वृद्धिगत बने रहते हैं। अतः अक्षर उनकी संज्ञा है। श्लोक में अक्षर नाम के बाद एव और च ए दो पद आए हैं 'एव' का अर्थ है ही और च का अर्थ और। 'एव' निश्चयबोधक और 'च' समुच्चय बोधक। क्षेत्रज्ञ और अक्षर दोनों ही भगवान् के नाम हैं इसी दृष्टि से दोनों पदों का सहस्त्रनाम में ग्रहण किया गया है। 'एव च' पद भी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं। अक्षर से पहले क्षेत्रज्ञ और अक्षर के बाद 'एव च' को देखकर यह सन्देह हो सकता है कि कहीं इसका तात्पर्य जीव और ब्रह्म का तत्वतः अभेद बताना तो नहीं है। सन्देह की पुष्टि में कहा जा सकता है कि क्षेत्रज्ञ जीव है और अक्षर ब्रह्म है। 'एव' पद दोनों का परमार्थतः अभेद तथा 'च' पद दोनों को व्यावहारिक भेद प्रकट करता है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है कारण सहस्त्रनाम के सारे नाम भगवान् के हैं। इनमें कोई नाम भगवत् तत्व से अन्य किसी तत्व का वाचक नहीं है। गीता में स्पष्टतः जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ और मुक्तात्मा को अक्षर और अपने आपको (परब्रह्म) पुरुषोत्तम बताया है। अतः क्षेत्रज्ञ अक्षर और पुरुषोत्तम का अक्षर स्वतः सिद्ध है।

योगोयोग विदां नेता प्रधान पुरुषेश्वरः।
नारसिंह बपुः श्रीमान् केशव पुरुषोत्तमः।।
(श्लोक सं० ३)

१८. योग—अव्यय से अक्षर तक के पाँच नामों में यह स्पष्ट निर्देश मिलता है कि मुक्ति का वास्तविक अर्थ भगवत्प्राप्ति है। प्रश्न होता है कि इसका साधन क्या है? उत्तर योग नाम में मिलता है। जिस साधन के द्वारा लक्ष्य को प्राप्त किया जाय

उसे योग कहते हैं।

युज्यते प्राप्यते अनेन इति योग: योगार्थक युजिर् योगे इस रुधादि से **अकर्तरिचकारके संज्ञायाम्** इस सूत्र द्वारा घञ् प्रत्यय। भगवान् स्वयं अपनी प्राप्ति के साधन हैं। वे स्वयं मोक्ष के हेतु हैं अत: वे योग कहलाते हैं। इस नाम के द्वारा श्रीभगवान् सायुज्य मुक्ति के साधनान्तर निरपेक्ष साक्षात् साधन सिद्ध होते हैं। **ददामि बुद्धि योगं तम्। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि०।**

१९. योगविदां नेता—योगंवेत्तीतियोगवित् तेषां नेता। णीञ् धातु: तृच् प्रत्यय:।

जिन साधनों के द्वारा भगवान् से योग होता है वह तो योग है ही। भगवद् भक्तियोग है। भगवच्छरणागति भी योग है। अन्य साधनों को भी योग के अन्तर्गत गिनाया जा सकता है। ऐसे सभी योग-निष्ठ पुरुषों के नेता एवं निर्वाहक भगवान् हैं। सभी उपासकों को मोक्षरूपी फल भगवान् ही प्रदान करते हैं।

उपायभक्ति निष्ठाये तेच योगविद: स्मृता:।
तेषां फल पर्यन्ने नेता निर्वाहकश्च य:।।

२०. प्रधान पुरुषेश्वर:—

प्रधानस्य, पुरुषाणाञ्च ईश्वर: नियामक:।
बन्धहेतो: प्रधानस्य वध्यमान नृणाञ्च य:।
नियामक: सर्वदा स प्रधान पुरुषेश्वर।।

प्रधान प्रकृति तत्त्व को कहते हैं और पुरुष तत्व जीव तत्व है भगवान् इन तत्वों के भी नियामक हैं।

बन्धन के हेतु प्रधान प्रकृति और बध्यमान जीव दोनों के सर्वदा निर्वाहक होने से भगवान् की प्रधानपुरुषेश्वर संज्ञा है। प्रधान क्षेत्रज्ञ ''पतिर्गुणेश:''। (श्वेताश्वतर उपनि०)

२१. नारसिंह वपु:—नरवत् ''सिंहवत् रूपं यो विभर्त्यभयप्रदम्'' नरसिंह वत् वपु: = शरीरम् अस्य नरसिंह सम्बन्धि। अस्य नरसिंह वपु:।

भगवान् सर्वेश्वर हैं उनके ईश्वरत्व में न्याय और दया का पूरा-पूरा सामञ्जस्य रहता है। न्यायकारी होते हुए भी दया करते हैं। दया करते हुए भी न्याय की उपेक्षा नहीं करते। उनका एक एक रूप न्याय और दया का प्रतीक है। इन रूपों में नरसिंह रूप की विशेषता है जिसके कारण नारसिंह वपु: शब्द को यहाँ एक नाम के रूप में उपस्थित किया गया है। इसका अर्थ यह है कि उनका शरीर नरसिंह है। न्याय और दया की माँग यह थी कि वे हिरण्यकशिपु के अत्याचारों से भक्त प्रह्लाद की रक्षा करते। नृसिंहावतार ग्रहण कर उन्होंने यही किया। उनके इस रूप में नर और सिंह का अद्भुत सम्मेलन था। मर्यादा का प्रतीक नर और तेजस्विता का प्रतीक सिंह दोनों की सम्मिलित झाँकी इस रूप में मिलती है। इस अवतार से यह भी प्रकट होता है कि भगवान् भक्तिपथ की बाधाओं का निराकरण करते हुए भक्तों के इच्छानुसार अभयदान देते हैं।

२२. श्रीमान्—सेवार्थक श्रिञ् धातो: क्विप् दीर्घे श्री शब्द:। श्री अस्ति अस्य अस्मिन् मतुप् द्वारा श्रीमान् सिद्धि।

इस शब्द में श्री जहाँ लक्ष्मी का वाचक है वहाँ सौन्दर्य लावण्य आदि का भी निर्देशक है। सिंह का रूप भयङ्कर होता है किन्तु नरसिंह रूप में ऐसी भयङ्करता नहीं होती। कारण वे लक्ष्मी नृसिंह के रूप में दर्शन देते हैं। उनका रूप सौन्दर्य लावण्य आदि गुणों से सम्पन्न रहता है। श्री जिनकी है अथवा श्री जिनमें है वे श्रीमान् हैं।

२३. केशव:—प्रशस्तस्निग्धनील कुटिल कुभल: केशा: सन्ति अस्य प्रशंसायां केशशब्दात् व: प्रत्यय:।

नारसिंह वपु: में भगवान् के रूप की चर्चा हुई। श्रीमान् नाम से प्रकट हुआ कि भगवान् का रूप सौन्दर्य आदि गुणों से सम्पन्न है। इस सम्पन्नता का एक उदाहरण केशव नाम में है। भगवान् के

केश बड़ा ही सुन्दर है। स्निग्ध नील, कुटिल (घुंघराला) है। नख शिख का वर्णन का एक क्रम केशों से अंगरंग होता है।

२४. पुरुषोत्तमः—पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः सप्तमी समासः।

इस विग्रह में उत्तम शब्द के अन्तर्गत उत् उपसर्गत्तम में तर और तमप् का संमिश्रण है। अतः उत् से उत्कृष्ट वाची बद्धजीव, तरप् प्रत्यय द्वारा मुक्त जीव और तमप् प्रत्यय द्वारा नित्य मुक्त सूरि अनन्त वैनतेय आदि का ग्रहण किया गया है। प्रधान पुरुषेश्वरः नाम में पुरुष शब्द से जीवात्मा का बोध कराया गया है। भगवान् समस्त पुरुषों में अथवा समस्त पुरुषों की अपेक्षा उत्तम हैं। गीता में यही पुरुषोत्तम योग में **अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः** भगवान् यही पुरुषोत्तम अपने को बतला रहे है इसी का उल्लेख किया गया है।

सर्व शर्वः शिवः स्थाणुर्भूतादि निधिरव्ययः।
संभवोभावनो भर्ता प्रभवः प्रभुरीश्वरः।।
(श्लो० ४)

२५. सर्वः—सृगतौ धातुः वन् प्रत्ययः सरति अवयवान्।

अर्थात् जो अपने अवयवभूत सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त रहता है, इस अर्थ में वन् प्रत्यय होकर सर्व शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ पर गत्यर्थक (गमनार्थक) सृ धातु **सर्वे गत्यर्थाः बुध्यर्थाः भवन्ति** इस नियम के अनुसार ज्ञानार्थक है। भगवान् जड़-चेतन सभी वस्तुओं की उत्पत्ति तथा प्रलय सबों को सदा जानते हैं, अत एव वे सर्व शब्द से सम्बोधित किये जाते हैं।

असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययः।
सर्वस्य च सदा ज्ञानात् सर्वमेनं प्रचक्षते।।

जगत् के सम्पूर्ण में अवयवों में गतिशील एवं असत् और सत् सभी की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के स्थान होने से तथा सर्वदा सबों का ज्ञान रखने से सर्व उनकी संज्ञा है। ''सर्व सर्वमिदम्''।

२६. शर्वः—हिंसार्थक शृ धातु वन् प्रत्ययः। स्वशरीरभूतानामशुभमपि शृणाति इति शर्वः।

चराचर समस्त पदार्थ उनके शरीर हैं, इनके अशुभ को वे नष्ट करते हैं।

२७. शिवः—शीङ्ग स्वप्ने धातुः धातूनामनेकार्थत्वात्। शुभार्थक शीङ्ग धातुः वन् प्रत्ययः ह्रस्वः गुणाभावः निपातनात्। ''शाश्वतं शिवमच्युतम्'' ''स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमस्वराट्''।

भगवान् सबों को शुभ प्रदान करते हैं तो फिर भक्तजनों की बात ही क्या है अर्थात् जीवों के कल्याणकारी होने के कारण भगवान् शिव शब्द से अभिहित किये जाते हैं। भगवान् की मङ्गलकारणता का प्रतिपादन निम्न वाक्य करते हैं—**मङ्गलं भगवान् विष्णुः, मङ्गलानाञ्चमङ्गलम्, मङ्गल्यं मङ्गलं विष्णुम्** आदि।

२८. स्थाणुः—स्थाधातुः णु प्रत्ययः अनुग्रह प्रदाने दृढ़ तिष्ठति इति स्थाणुः।

अशुभ के निवारण तथा शुभ प्रदान करने में वे कभी विश्राम नहीं लेते हुए सदा भक्तों पर अनुग्रह करने में स्थिर रहते हैं—

'एको बहूनां यो विदधाति कामान्'
'सकलफलप्रदोहि विष्णुः'

रत्न पर्वतमारुह्य यथा रत्नं नरो मुने।
सत्वानुरूपमादत्ते तथां कृष्णान्मनोरथान्।।

अर्थात् जो अकेला परमात्मा अनेक जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है। हे मुने! जिस प्रकार रत्न के पर्वत पर जाकर भी जीव अपनी शक्ति के अनुसार ही रत्नों को ले पाता है, उसी तरह प्रभु श्रीकृष्ण से जीव अपनी भक्ति के अनुसार ही फलों को प्राप्त कर पाता है।

२९. भूतादिः—भूतपूर्वक दा धातोः कि प्रत्यये कृते सति आदि शब्दः निष्पद्यते। भूतैरूपादीयते इति भूतादिः।

जो अशुभ मिटा सके, शुभ प्रदान कर सके भला उसे कौन नहीं चाहेगा? भगवान् समस्त प्राणियों के लिए सदा उपादेय हैं।

भूतैर्यः प्राणिभिर्नित्यं स्पृहणीय तमत्वतः।
उपादानाद्धि भूतादि रुच्यते सुन्दराकृतिः।।

३०. निधिरव्ययः—निधीयते इति निधिः। निपूर्वक धा धातुः कि प्रत्ययः। वीयते इति व्ययः वि पूर्वक इण् धातुः अच् प्रत्ययः नञ् समासः नव्यय अव्ययः।

यहाँ अव्ययपद निधिपद का विशेषण है स्वतन्त्र नाम नहीं है। स्वतन्त्र नाम होने पर पुनरुक्ति दोष होगा। अव्ययश्च असौ निधिः।

सदोपभुज्यमानोऽपि कलयाप्यनुपक्षयात्।
अतो अव्ययनिधि रिति ह्येक नाम प्रकीतितम्।।

भगवान् भक्तों के लिये ऐसी अक्षय निधि हैं जो कभी समाप्त नहीं होती। इसीलिये वे अव्यय निधि कहाते हैं।

३१. संभवः—सं पूर्वक भू सत्तार्थक धातुः अप् प्रत्ययः समन्तात् भवोयस्य बहुब्रीहिः।

निधिवच्चाति गूढोऽपि रामकृष्णादि भेदतः।
समन्ताद् बहुधा जातः संभवः परिकीर्तितः।।

लोक-व्यवहार में निधि (कोष) को छिपाकर रखा जाता है किन्तु भगवान छिपकर रहना नहीं चाहते। भक्तजनों से मिलने का संयोग हो सके इसके लिए वे अवतार ग्रहण करते हैं। इनका अवतार किसी देश-काल तक सीमित नहीं है। सभी देश और काल अवतार से सम्बद्ध हो सकता है। स्वयं उन्होंने कहा है। **यदा यदा हि धर्मस्य** जब-जब धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब मैं अवतार ग्रहण करता हूँ।

३२. भावनः—भावयति इति भावनः। भू सत्तार्थक धातुः णिच् ल्यु णिलोपे भावनः। जनित्वोज्जीवयति यो जेनान्०।

अवतार ग्रहण कर भगवान् अनिष्ट निवारण, इष्ट प्रापण के द्वारा भक्तों को उज्जीवन करते हैं यही भावयति का अर्थ है। साधुजनों के परित्राण हेतु ही वे अवतीर्ण होते हैं।

३३. भर्ताः—भक्तान् आत्मदानेन विभर्ति पुष्णाति भृञ् धातोः तच्छीले तृचि भर्ता।

आत्मदान देकर वे साधुजनों (भक्तजनों) को भरण पोषण करते हैं, अतः भर्ता उनकी संज्ञा है। स्मरतः पादकमलमात्मानपि यच्छति। गजेन्द्र, द्रौपदी को स्मरण करते ही तार दिया।

३४. प्रभवः—प्रकृष्टः भव (व्यक्तिभावः) यस्य स ''अजायमानः'' ''तस्य धीरा परिजानन्तियोनिम्'' ''नैष गर्भत्वमापेदे न योन्यामवसत्प्रभुः''। आत्मनतेजसा कृष्ण सर्वेषां कुरुते गतिम्। **जन्मकर्म च मे दिव्यम्।**

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि वे स्वेच्छया अवतीर्ण हुआ करते हैं। यही प्रकृष्ट अभिव्यक्ति उनकी है। इस प्रकार उनका अवतार कर्म के अधीन नहीं होता। वे दया की राह अवतार ग्रहण करते हैं। उनकी दिव्यता अवतार ग्रहण काल में प्रस्फुटित होती रहती है। अतः उनका जन्म साधारण न होकर विशेषता से सम्पन्न रहता है।

३५. प्रभु—प्रपूर्वक भू धातोः डु प्रत्ययः। प्रभवति = समर्थः भवतीति प्रभुः सर्वेष्ट फलदः।

भगवान् अवतार ग्रहण करने पर सामर्थ्य हीन कभी नहीं होते। इष्टफल भोग मोक्ष प्रदान करने में वे सर्वदा समर्थः बने रहते हैं। समर्थः प्रभुरित्युक्तः सर्वेष्ट फलदो मनुः''।

दिव्य प्रश्न? अद्भुत उत्तर

महाभारत के वनपर्व में युधिष्ठिर-यक्ष-संवाद का प्रकरण मानव-मात्र के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ही नहीं, उपयोगी भी है। पाण्डव जब वनवास में थे, तो वे एक समय मुसीबत में फँस गये थे। वे एक मायामृग के पीछे दौड़ते-दौड़ते थक गये, पसीने से तर-बतर हो गये; परन्तु वह मायामृग गायब हो गया। वे एक वृक्ष के नीचे विश्राम के लिए बैठ गये, उन्हें जोर की प्यास लग रही थी। महाराज युधिष्ठिर ने सर्वप्रथम नकुल को पानी की खोज में भेजा। एक सरोवर के पास पहुँचकर ज्यों ही नकुल ने पानी पीना चाहा, उसी समय आकाशवाणी सुनायी पड़ी—

'इस सरोवर का पानी पीने का साहस न करो, यह तालाब मेरे अधिकार में है, यदि तुम मेरे प्रश्नों का सही उत्तर दे दोगे तो तुम जल का उपयोग कर सकते हो, यदि प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाओगे तो तुम अचेत हो जाओगे'।

आकाशवाणी सुनकर पहले तो नकुल विचलित हुए, किन्तु प्यास अधिक लगी थी, अत: रोके जाने पर भी उन्होंने पानी पी ही लिया। पानी पीना क्या था कि वे अचेत होकर वहीं तालाब के किनारे गिर पड़े। जब नकुल वापस नहीं लौटे तो चिन्तित हो युधिष्ठिरजी ने सहदेव को भेजा। उनके साथ भी वही बात हुई। वे भी अचेत गिर पड़े। इसी प्रकार एक-एक कर सभी भाई पानी की खोज में गये, किन्तु वे यक्ष के प्रश्नों के जवाब न दे सके इसलिए तालाब के किनारे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। अन्त में महाराज युधिष्ठिर जलाशय के पास पहुँचे तो उन्हें भी आकाशवाणी सुनायी दी—

'तुम्हारे भाइयों ने मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया, इसलिए मेरे शाप से उनकी मृत्यु हुई है। यदि तुम पानी पीना चाहते हो तो पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, नहीं तो तुम्हारी भी यही गति होगी'।

धर्मराज स्वयं युधिष्ठिर की परीक्षा लेना चाहते थे, वे पहले मायावी मृग बने थे, अब भयङ्कर डरावने यक्ष के रूप में सरोवर से निकले। युधिष्ठिर ने कहा—ठीक है, तुम प्रश्न पूछो। मैं अपनी बुद्धि के अनुसार तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दूँगा। इस पर यक्ष ने अनेक प्रश्न पूछे और महाराज युधिष्ठिर ने अनेक जो उत्तर दिये उनका कुछ सारभाग यहाँ दिया जा रहा है। प्रत्येक जिज्ञासु को इन पर अवश्य विचार करना चाहिए—

यक्ष—युधिष्ठिर! बताओ धनों में उत्तम धन कौन-सा है और सबसे बड़ा धनी कौन है?

रुपया पैसा, सोना, चाँदी, जमीन-जायदाद आदि सभी धन हैं। अब यह कैसे तय किया जाय कि कौन-सा धन सबसे उत्तम है? लोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अपनी पूँजी सञ्चित कर रहे हैं। अमीरों की गगनचुम्बी बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ, महल, आलीशान इमारतें खड़ी हैं, बड़े-बड़े कारोबार हैं। पैसे के पीछे समाज में झूठ, फरेब, हिंसा, डकैती, अनाचार सब कुछ होता है। सभी अपने-अपने धन को उत्तम कमाई मानते हैं।

युधिष्ठिर—धनों में उत्तम धन तो शास्त्र-ज्ञान है (धनानामुत्तमं श्रुतम्) और जो मनुष्य प्रिय-अप्रिय, सुख-दु:ख और भूत-भविष्यत्–इन द्वन्द्वों में सम है, वही सबसे बड़ा धनी है तथा जो नि:स्पृह शान्तचित्त, सुप्रसन्न और सदा योगयुक्त है, वही सब धनिकों का स्वामी है। मनुष्य और पशु में केवल बुद्धिबल और विवेकबल का ही अन्तर है। पशु केवल एक क्षण की बात ही सोच सकता है, जबकि मनुष्य दूरदर्शिता, ज्ञान-विज्ञान, उद्योग, यातायात, चिकित्सा, अध्यात्म, मनोविज्ञान, दर्शन, धर्म आदि में जो अद्भुत विकास पाते हैं वह मानव की विलक्षण बुद्धि, प्रतिभा, कौशल, दूरदर्शिता के ही सुखद परिणाम हैं। बुद्धि-बल वह महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसके समुचित विकास और परिष्कार द्वारा ही ज्ञान का विकास होता है, इसलिए ज्ञान ही

सर्वोत्तम धन है।

यक्ष—लोक में श्रेष्ठ धर्म क्या है (कश्च धर्म परो लोके)?

युधिष्ठिर—समाज और संसार में दया ही श्रेष्ठ धर्म है। आनृशंस्य परो धर्म: और सबके सुख की इच्छा रखना ही उत्तम दया है (दया सर्व सुखैषित्वम्)। वास्तव में यदि अपने से दीन-हीन, असहाय, बीमार, आश्रित, बच्चों, वृद्धों, जरूरतमन्द लोगों पर दया न की जाय, विकलाङ्गों पर दया करके सेवासहायता न दी जाय, तो समाज कैसे उन्नति करेगा?

यक्ष—किसके साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती (कैश्च संधिर्न जीर्यते)?

युधिष्ठिर—सत्पुरुषों के साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती (संधि: सद्भिन जीर्यते)। दूसरे के चरित्र, मन्तव्य, धर्म, हैसियत, विद्या, बुद्धि और अनुभव आदि को परखकर विद्वानों एवं सत्पुरुषों से ही मित्रता करनी चाहिये। कुसङ्गति मनुष्य के सर्वनाश का कारण है बन सकती है।

यक्ष—पृथ्वी से भी भारी चीज क्या है (किं स्विद गुरुतरं भूमे:)?

युधिष्ठिर—माता का गौरव पृथ्वी से भी अधिक है (माता गुरुतरा भूमे:)। माता की सेवा, दया, वात्सल्य तथा उसका निस्वार्थ भाव सबसे भारी चीज है। माता का ऋण कभी भी नहीं उत्तरता। माता की जितनी भी सेवा की जाय, कम है। माता के समान दूसरा कोई सच्चा गुरु भी नहीं है।

यक्ष—दुर्जय शत्रु कौन है (क: शत्रुदुर्जय: पुंसाम)?

युधिष्ठिर—मनुष्य के मनोविकारों में क्रोध (उत्तेजना) सबसे दुर्जय शत्रु है (क्रोध: सुदुर्जय: शत्रु:)। क्रोधी अपने कार्यों से उत्पन्न होने वाला भयानक फल, वैर-विरोध, झगड़ों, अपमान, तुच्छ बातों की भी परवाह नहीं करता। उसे मन में बसाने से वह इर्ष्या, द्वेष, अहङ्कार करने लगता है। मानसिक सन्तुलन खो जाता है और अन्याय, अत्याचार शुरु हो जाता है।

यक्ष—सच्चा सुखी कौन है (को मोदते)?

युधिष्ठिर—जिसके सिर पर ऋण (कर्ज) न हो (अनृणी)।

यक्ष—संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है (किमाश्चर्यम्)?

युधिष्ठिर—नित्य ही प्राणी यमलोक जा रहे हैं, बच्चे-जवान, स्त्री-पुरुष किसी भी आयु वर्ग के अमीर-गरीब, कमजोर-मजबूत, भले-चंगे, नये नये रोगों से ग्रसित होकर, युद्ध अकाल, महामारी, भूकम्प, दुर्घटनाओं, वैर-विरोध और हिंसा से मर रहे हैं, फिर भी जो बचे हुए हैं, वे सदा सर्वदा जीने की इच्छा रखते हैं, इससे बड़ा आश्चर्य भला और क्या होगा?

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषा: स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमत: परम्।।

यक्ष—चलने के लिये उत्तम मार्ग कौन-सा होता है?

युधिष्ठिर—जिस सीधे-सादे सन्मार्ग से, धर्म के रास्ते से श्रेष्ठजन, साधु-विद्वान्, महान्-जन चले हैं, जो धर्मशास्त्रों के उपयुक्त है, परिस्थितियों के अनुसार उचित है, निष्कण्टक है, झूठ-कपट आदि से दूर है, वही मार्ग प्रशस्त है। उसी मार्ग से चलना चाहिये (महाजनो येन गत: स पन्था:)।

इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर ने यक्ष को अपने तर्कसम्मत धर्ममय उत्तरों से सन्तुष्ट कर दिया। फलत: धर्म-भावना, विवेक और बुद्धि-चातुर्य से प्रसन्न होकर यक्ष ने उनके भाइयों को जीवन दान दिया। वे यक्ष और कोई नहीं युधिष्ठिर के पिता साक्षात् धर्मराज थे और युधिष्ठिर की परीक्षा ले रहे थे।

ये उत्तर आज भी महत्त्वपूर्ण और विचारणीय हैं। जीवन में इन्हें काम में लाने से महान लाभ होगा।

भगवान वृक्ष की आड़ से क्यों देखते थे?

पुनि नाना विधि भई लराई।
विटप ओट देखहिं रघुराई।।

(मानस ४.७.८)

भगवान के वृक्ष के ओट में छिपने का मतलतब यही था कि बालि के सामने आने पर कहीं ऐसा न हो कि बालि सुग्रीव से भय खाकर हमें सामने देखकर डरकर भाग जाय और मेरा बाण जो धनुष पर चढ़ चुका है, यह व्यर्थ हो जाय; क्योंकि राम के धनुष पर चढ़ा हुआ बाण विना कार्य सिद्ध किये धनुष से उतरता नहीं था। इसलिए वे वृक्ष के पीछे छिपकर बालि एवं सुग्रीव के युद्ध को देख रहे थे। जब समय आ गया तो उन्होंने वृक्ष की ओट से अलग होकर बालि के सीने में (हृदय पर) प्रहार किया। जिससे बालि मृत्यु को प्राप्त हुआ।

बालि ने जो राम से यह कहा कि ***'मारेहु मोहि ब्याध की नाईं'*** यह उसने इसलिए ही कहा; क्योंकि राम बालि और सुग्रीव के युद्ध को वृक्ष के आड़ में छिपकर देख रहे थे। उन्होंने बालि को ब्याध की तरह छिपकर मारा नहीं, यह बालि का राम पर मिथ्या दोषारोपण था। ऐसा वाल्मीकि रामायण का भी मत है कि बालि ने राम को बहुत सी बातें खरी-खोटी सुनाया था।

दूसरी बात प्रभु राम का वृक्ष की ओट में रहकर युद्ध देखने में जो लोग यह मानते हैं कि राम ने बालि को वृक्ष की ओट से ही मारा, उन्हें इस सम्बन्ध में यह जानना चाहिए कि बालि को जो ऋषियों का यह वरदान प्राप्त था कि तुझसे युद्ध करने वाले व्यक्ति का आधा बल तुझे (बालि को) मिल जाएगा, की रक्षा करने के लिए राम वृक्ष की ओट से युद्ध के दृश्य का अवलोकन किया एवं बालि को मारा; क्योंकि यदि राम ऐसा न करते तो ऋषियों के वरदान की पूर्ति नहीं होती और ऋषियों की बात झूठी होने से मर्यादा का उल्लङ्घन होता, जो मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लिए उचित नहीं था। साथ ही यह भी मानना चाहिए कि यदि राम ऋषियों की बात का उनके वरदान का उल्लङ्घन कर देते तो बालि को और आने वाली अन्य पीढ़ियों एवं अन्य लोगों को भी ऋषियों की वर देने की शक्ति के प्रति सन्देह हो जाता। इन्हीं कारणों से राम ने वृक्ष की ओट लिया कि सबकी रक्षा हो और अन्यायी का वध हो सके। अन्यथा राम तो क्षणमात्र में सम्पूर्ण संसार की किसी भी शक्ति और दुराचारी का विनाश करने में पूर्णतया सक्षम थे। वास्तविकता यही थी कि कहीं बालि यह जानकर कि सुग्रीव पर राम की कृपा है और राम युद्ध में मुझे मार देंगे, भाग न जाए, राम वृक्ष की ओट से देख रहे थे।

यहाँ पर आप एक प्रश्न कर सकते हैं कि यदि ऐसा होता तो बालि की स्त्री तारा ने जब बालि को समझाया था—**सुनु पति जिनहिं मिलेउ सुग्रीवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा।।** तो पहले ही बालि युद्धार्थ सुग्रीव के ललकारने पर न आता? यह प्रश्न भी तर्कयुक्त है। किन्तु यहाँ पर आपको यह भी समझना चाहिए कि बालि यह विश्वास करके चला था कि पहले तो राम मुझमें और सुग्रीव में कोई अन्तर मानेंगे ही नहीं; क्योंकि वे तो समदर्शी हैं और यदि वे कोई भेद मानकर हमें मार भी देंगे तो हमें मुक्ति मिल जायेगी; क्योंकि वह यह जानता था कि राम साधारण मनुष्य नहीं परमेश्वर के अवतार हैं। इसलिए वह युद्ध के लिए मना करने पर भी आया; क्योंकि उसे अपना अकल्याण कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा था।

तीसरी बात जो थी यह कि राम वृक्ष की ओट

से युद्ध इसलिए भी देख रहे थे; क्योंकि सामने से युद्धलीला देखने से जहाँ बालि यह समझता कि ये हम दोनों भाइयों को लड़ाकर तमाशा देख रहे हैं। वहीं सम्भव था कि सुग्रीव को लगता कि बालि के प्रहार से मैं तो परेशान होता जा रहा हूँ और राम बालि को मारने में विलम्ब कर रहे हैं, इस तरह से युद्ध में सुग्रीव का मन अस्थिर होता। युद्ध में विध्न न पड़े और किसी का मन विचलित न हो इसलिए भी राम वृक्ष की ओट से छिपकर युद्ध की कला देख रहे थे तथा अवसर आने पर सुग्रीव द्वारा हार मान लेने पर राम ने ऋषियों के वरदान की रक्षा करते हुए, बालि का बध अर्थात् एक अन्यायी और अभिमानी का वध किया।

आगे तो मानस अथाह सागर है, अन्यान्य विद्वानों के और भी मत हो सकते हैं। यह भगवान राम की लीला, तो आगम, अगाध और अथाह तथा अप्रतिम है, प्रभु राम की लीला के अणुतम अंश का रहस्य भी इस तुच्छ बुद्धि से परे है। अत: इसमें सन्देह की जगह पर विश्वास की आवश्यकता अधिक है। प्रेमपूर्वक भगवान राम की कथाओं को सविश्वास स्मरण करना और सुनना चाहिए।

●

परम विशिष्ट भागवत-धर्म

श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्ध में राजा निमि के साथ नौ योगीश्वरों के संवाद में 'भागवत-धर्म' तथा उसका आचरण करने वाले भागवतों के लक्षणों का सुन्दर वर्णन है। उसी में से कुछ यहाँ दिया जाता है। राजा निमि ने पूछा—

धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम्।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः।।

(श्रीमद्भा० ११.२.३१)

यदि हम सुनने के अधिकारी हों तो आप कृपापूर्वक भागवत-धर्मों का वर्णन कीजिये। एकरस भगवान् प्रसन्न होते हैं और उन धर्मों का पालन करने वाले शरणागत भक्त को वे अपने-आप तक को दे डालते हैं।

इस प्रश्न को सुनकर नौ योगीश्वर प्रसन्न हो गये और उनमें से 'कवि' नामक योगीश्वर ने कहा— राजन्! अपनी महिमा में नित्य प्रतिष्ठित भगवान् के चरणकमलों की नित्य-निरन्तर उपासना करना ही सर्वथा भयशून्य मार्ग है। शरीर, घर, सम्पत्ति आदि अज्ञात् तुच्छ तथा विनाशी पदार्थों में अहंता-ममता हो जाने के कारण जिनकी चित्तवृत्ति व्यग्र हो रही है, उनका भय भी भगवान् की उपासना करने से पूर्णतया निवृत्त हो जाता है। सरल हृदय के अज्ञानी पुरुषों को भी सुगमता से साक्षात् अपनी प्राप्ति के लिये जो उपाय भगवान् ने बतलाये हैं, उन्हें भागत-धर्म समझो। इन भागवत-धर्मों पर दृढ़ आस्था के साथ इनका अवलम्बन करने पर फिर मनुष्य को किसी भी विघ्न का भय नहीं रह जाता और आँखें बन्द करके दौड़ने पर अर्थात् विधि-विधान की परवाह न करके केवल भगवान् पर दृढ़ विश्वास करके उनकी कृपा के बल पर ही उनके प्रीत्यर्थ जीवन विताने पर भी, फिर न तो वह कभी मार्ग से स्खलित ही होता है और न गिरता ही है।

इस भागवत-धर्म का पालन करने वाले को चाहिये कि वह शरीर से, वाणी से, मन से, इन्द्रियों से, बुद्धि से तथा अहङ्कार से अनेकों जन्मों के तथा इस जन्म के अभ्यासवश स्वभाव से जो कुछ भी करे, सब परम पुरुषोत्तम भगवान् नारायण को समर्पण कर दे। यही सर्वसुलभ भागवत-धर्म है। आगे चलकर फिर कहते हैं—

उस पुरुष को चाहिये कि वह संसार में चक्रपाणि

भगवान् के लोक-प्रसिद्ध जन्मों की, कर्मों की, गुणों की लीलाओं को सुनता रहे और उन गुणों तथा लीलाओं के अनुसार रखे गये, उन लीलाओं का स्मरण कराने वाले भगवान् के नामों का लाज-सङ्कोच छोड़कर गान करे एवं कहीं भी आसक्ति न रखते हुए संसार में विचरे। इस प्रकार विशुद्ध व्रत धारण करने वाले भक्त के हृदय में अपने परम प्रियतम भगवान् के नाम-कीर्त्तन में अनुराग-प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसका चित्त द्रवित हो जाता है, वह बड़भागी पुरुष लौकिक स्तर से ऊपर उठकर सहज ही प्रेममत्त हो कभी खिल-खिलाकर हँसने लगता है कभी फूट-फूटकर रोने लगता है, कभी उच्च स्वर से पुकाने लगता है तो कभी मधुर स्वर से प्रियतम प्रभु के गुणों का गान करने लगता है और कभी-कभी उन्मत्त की तरह नाचने लगता है, उसे दीखता है प्रियतम मेरे सामने खड़े हैं। राजन्! ऐसा वह भक्त केवल चेतन जीवों में ही अपने प्रभु को नहीं देखता–वह ऐसा अनुभव करता है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी सब दिशाएँ, वृक्ष-लता, नदी, समुद्र, जो कुछ भी है, सभी भगवान् के शरीर हैं–इन सब रूपों में भगवान् भी प्रकट हैं और वह जड़-चेतन सभी को अनन्य भगवद् भाव से प्रणाम करता है। सबके सामने नत रहकर वह सहज ही सबका अर्चन-हित साधन करता है। जैसे भोजन करने वाले को प्रत्येक ग्रास के साथ ही तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति–तीनों प्राप्त होती जाती है, वैसे ही भगवान् के शरण होकर उनका भजन करने वाले को प्रतिक्षण प्रेमास्पद भगवान् के प्रति प्रेम, उनके स्वरूप का अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुमात्र में वैराग्य–तीनों प्राप्त हो जाते हैं। राजन्! इस प्रकार प्रत्येक वृत्ति से भगवान् अच्युत के चरणकमलों का भजन करते-करते उसे वैराग्य और प्रियतम् भगवान् के स्वरूप का भली-भाँति बोध–ये सब अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। फिर वह परम शान्ति का साक्षात् अनुभव करने लगता है।

योगीश्वर कवि के इस प्रकार कहने पर राजा निमि ने ऐसे भगवदभक्त के लक्षण, धर्म, स्वभाव, आचरण तथा बोल-चाल के सम्बन्ध में पूछा। तब योगीश्वर हरि ने कहा—आत्मस्वरूप भगवान् समस्त प्राणियों में आत्मा रूप से स्थित हैं। सर्वत्र समान रूप से परिपूर्ण भगवत् सत्ता है और समस्त प्राणी-पदार्थ परम आत्मस्वरूप भगवान् में ही स्थित हैं। इस प्रकार जो भगवत्स्वरूप का अनुभव करता है वह श्रेष्ठ (उत्तम) भागवत (प्रेमीभक्त) है। जो भगवान् से प्रेम, उनके भक्तों से मित्रता, दु:खी और अज्ञानियों पर कृपा तथा भगवान् से द्वेष करने वालों की उपेक्षा करता है, वह 'मध्यम' भागवत (भक्त) है और जो भगवत्प्रतिमा की पूजा आदि में ही श्रद्धा करता है; परन्तु भगवान् के भक्तों तथा अन्य लोगों की श्रद्धा से सेवा नहीं करता, वह 'साधारण' भगवद्भक्त है।

जो इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण तो करता है; परन्तु अनुकूल विषय की प्राप्ति में हर्षित नहीं होता और प्रतिकूल की प्राप्ति में द्वेष नहीं करता, यही मानता है कि यह सब हमारे भगवान् की माया-लीला या कृपा है, वह उत्तम भगवद्भक्त है। जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, श्रम-कष्ट, भय और तृष्णा–ये क्रमश: शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के सांसारिक धर्म हैं, ऐसा मानकर जो इनसे मोहित नहीं होता और भजन में तन्मय रहता है, वह उत्तम भागवत (भगवद्भक्त) है। जिसके मन में विषय-भोग की कामना, तज्जन्य कर्म में प्रवृत्ति और उनके बीजरूप वासनाओं की उत्पत्ति नहीं होती और जो एकमात्र वासुदेव में ही निवास करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है। जिसका इस शरीर में जन्म, कर्म तथा वर्ण, आश्रम और जाति को लेकर कोई अहंभाव (अभिमान) नहीं होता, वह निश्चय ही भगवान् हरि का प्रिय भक्त है।

जिसका धन-सम्पत्ति अथवा शरीर आदि में अपना-पराया–ऐसा भेदभाव नहीं होता, जो सब प्राणी-पदार्थों में समरूप परमात्मा को देखता है समदृष्टि होता है और किसी प्रकार भी क्षुब्ध न होकर प्रत्येक स्थिति में शान्ति रखता है, वह निश्चय ही उत्तम भगवद्भक्त है। बड़े-बड़े देवता तथा ऋषि-मुनि आदि अपने अन्त:करण में ध्यान करते हुए जिन भगवान् को खोजते रहते हैं, उन भगवान् के चरणकमलों से, त्रिभुवन की राज्यलक्ष्मी देने पर भी आधे क्षण, आधे पल के लिये भी जिसकी स्मृति का तार नहीं टूटता वह भगवद्भक्तों–वैष्णवों में अग्रगण्य परम श्रेष्ठ है। असीम अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य के समुद्र भगवान् के श्रीचरणों की अङ्गुलि-नख-मणि की शीतल चन्द्रिका से जिन भक्तों के हृदय का विरह-सन्ताप एक बार शान्त हो चुका है, उनके हृदय में क्या वह फिर कभी आ सकता है? चन्द्रमा के उदय होने पर क्या सूर्य का ताप ठहर सकता है? विवश होकर जिनके नाम का उच्चारण कर लेने पर जो समस्त पापराशि का नाश कर देते हैं, उन भगवान् के चरणकमलों को उस भक्त ने प्रेम-रज्जु से बाँध रखा है। अत एव वे स्वयं भगवान् हरि क्षणभर के लिए भी उसके हृदय को नहीं छोड़ते। ऐसा पुरुष भगवान् के भक्तों में प्रधान (सर्वश्रेष्ठ) है—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशामिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ।।

चन्दन की वाणी का प्रभाव

चन्दन का वृक्ष काँप गया। उसकी डालियों में लिपटे हुए काले भुजङ्ग अपने प्राणों के भय से वृक्ष छोड़ झाड़ियों की ओर भागे। तीक्ष्ण धार वाली कुल्हाड़ी के प्रथम प्रहार का ही यह परिणाम था। आह! धीरे से चन्दन के मुख से निकल गया, भगवान के राज्य में अनीति और अन्याय उत्तम नहीं। कुल्हाड़ी प्रहार पर प्रहार करती जा रही थी। करुणा और प्रेम नाम की कोई वस्तु नहीं थी उसमें। कोमल मलयज की सरस काया में वह धँसती निकलती और पुन: सवेग आघात करती। धार्मिक मलयज के न्याययुक्त वचन की ओर उसने ध्यान तक नहीं दिया। आह! अबकी बार चन्दन चीख उठा। उसकी काया का एक प्रिय अङ्ग कटकर उससे दूर पृथ्वी पर गिर पड़ा था। फिर भी उसने विनीत स्वर में कहा—मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है बहिन? बहिन! वाणी में इतनी आत्मीयता और मधुरता होती है। कुल्हाड़ी ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। वह रुक गयी विषधर भुजंग तुम्हारी काया में लिपटे रहते हैं। उसके मुँह से निकल गया पर उसकी आत्म स्वीकार कर रही थी कि वह सत्य नहीं बोल रही है। अपने दोषों को अविलम्ब स्वीकार कर लेना सामान्य बात नहीं; परन्तु इन कराल व्यालों के विषय का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता बहिन! श्रीखण्ड ने उत्तर में सनम्र कहा—मेरे अङ्क में लिपटकर उन्हें सुख मिलता है और शान्ति प्राप्त होती है। वे शीतलता का अनुभव करते हैं। मैं उनकी सेवा का निमित्त बन जाता हूँ, इस कारण मन ही मन मुदित भी होता हूँ। इस गिरि पर तुम्हारी शोभा नहीं। कुल्हाड़ी ने सयुक्ति कहा— तुम्हें देवताओं के मस्तक पर रखने का उपक्रम कर रही हूँ मैं। तुम जगत् में समादरित हो सकोगे। यहाँ तो देखो न भीलनियाँ तुम्हें आग में झोंककर अपनी रोटी बनाया करती हैं। क्षमा करना बहिन, गन्धसार ने मस्तक झुकाये विनम्रता

से कहा—देवता के सिर पर चढ़ने और जगत् के द्वारा सम्मानित होने की मुझमें किञ्चित कामना नहीं। यही मेरा स्वदेश है और यहाँ से अपने बन्धुओं के साथ मैं पवन को शीतल और सुगन्धित बनाकर जगत् को सुख स्वास्थ्य प्रदान करता रहता हूँ। विषधर तक मुझसे लाभ उठाते हैं और ये भोली भीलनियाँ तो मेरी जीर्ण-शीर्ण शुष्क काया अग्निदेव को समर्पित करती हैं, किन्तु तुम्हारा कठोर प्रहार और मेरे जीवित कटते-गिरते ये अङ्ग श्रीखण्ड आगे नहीं बोल सका।

समादरणीय बन्धु माङ्गल्य! परोपकार-रत आत्मा का आदर्श अनुपम होता है। सन्त का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, कुल्हाड़ी अधिक दुराव नहीं कर सकी। बड़ी दीनता से वह बोली—मैं पापिनी हूँ। मैं अपने दोषों को शब्दों के वाक् जाल में आच्छन्न करना चाहती थी; परन्तु तुम्हारे सङ्ग से मुझ में सत्य बोलने का साहस उदित हो रहा है। मैं अधम हूँ। अभी कुछ ही घण्टे पूर्व मेरा मुँह अग्नि में जलाकर हथौड़े से पीटा गया है, मुझे असह्य यातना मिली है, फिर भी मैं परपीड़न में रत होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पा रही हूँ। कुल्हाड़ी ने अनुभव किया उसका मुँह श्रीखण्ड के स्पर्श से शीतल और सुगन्धित हो गया है। तुम विवश हो बहिन! अपने दुःखों के चिन्ता किए बिना कुल्हाड़ी कि परितोषार्थ गन्धसार ने कहा—जीवन मात्र कर्मपाश में आबद्ध है। तुम्हें जीवन ही ऐसा मिला है जिससे अङ्गच्छेदन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। यह कृष्णकाय पुरुष विवश करता है तुम्हें इस कार्य के लिए। मेरी जीविका का प्रश्न है। पुरुष ने दोनों की बातें सुन ली थी। उसने तुरन्त उत्तर दिया—जीवन निर्वाह के लिए मेरे पास अन्य कोई साधन नहीं। वाक्य पूरा होते-होते पुरुष ने कुल्हाड़ी पूरी शक्ति से चला दी। झन्न! कुल्हाड़ी चन्दन की डाल में नहीं लग सकी दूर जा गिरि। तनिक-सा बच गया नहीं तो पुरुष का पाँव कट गया होता। अब तुम परोपकार रत सन्त काया मुझसे नहीं काट सकते। कुल्हाड़ी ने सरोष उत्तर दिया—यह भगवान का अपराध होगा। आप चिन्ता न करे। रौहिण पर जैसे रोष का कोई प्रभाव नहीं था। उसने प्रेमपूर्वक कहा—जीवन-निर्वाह के लिए आप मेरी काया भले ही काट ले; परन्तु मैं आपका कोई उपकार नहीं कर सकूँगा, किन्तु दबी जबान से इतना निवेदन कर सकता हूँ कि जीवित वृक्षों पर आघात करने से वृक्षों को पीड़ा होती है। जगत् का यह विषाक्त स्वरूप देखकर उन्हें मन ही मन घृणा होती है। आप चाहे तो उन्हें यह कष्ट दिए बिना भी अपनी जीविका चला सकते हैं। उनकी सद्भावना भी आपके साथ रहेगी। यह किस प्रकार सम्भव है? पुरुष के मुहँ से निकल गया। वह सोच रहा था।

भगवान ने आपको बुद्धि दी है चन्दन ने उत्तर दिया। प्राणियों में पुरुष सर्वश्रेष्ठ इसी कारण कहा जाता है कि वह विवेकशील होता है।

आप जीविका के लिए और बहुत कुछ कर सकते हैं, किन्तु यदि चन्दन-विक्रय ही आपको सुगम प्रतीत होता हो तो प्रतिवर्ष के आँधी-तुफान ही आपको दो-चार हरित वृक्ष प्रदान कर सकते हैं। एक-एक वृक्ष से आपका परिवार वर्ष भर अपना सात्त्विक जीवन व्यतीत कर सकता है, किन्तु सम्पत्ति जोड़ने की कामना तो वृक्ष-जाति का अङ्गच्छेद ही नहीं और भी अनेक अवाञ्छित क्रिया करने से भी नहीं पूरी हो सकेंगी।

तुम सचमुच सन्त हो चन्दन! पुरुष ने सहर्ष कहा। इसी कारण तुम भगवान के मस्तक पर स्थान पाते हो। अब मैं कभी किसी भी हरित वृक्ष पर हाथ नहीं उठाऊँगा। हमारी शुभकामना सदा आपके साथ रहेगी। चन्दन ने प्रसन्नता के साथ कहा। उसकी डालियाँ हर्षातिरेक से झूम उठी। पुरुष का मन शान्त था। वह सुख का अनुभव करते हुए घर लौट रहा था और कुल्हाड़ी उसके कन्धे पर मौन थी।

औरङ्गाबाद मण्डलान्तर्गत पाढ़ी ग्राम में सम्पन्न श्री लक्ष्मी-नारायण महायज्ञ का आँखों देखा हाल

सङ्कल्प—पूज्यपाद स्वामी जी महाराज द्वारा धर्मप्रचार का कार्य तो अहर्निश येन-केन प्रकारेण चलता ही रहता है; परन्तु श्री भगवान के प्रीत्यर्थ एवं श्री वैष्णवों को एकीकरण की दृष्टि से प्रत्येक संवत्सर में एक वृहद् यज्ञ का आयोजन विगत अनेक दशकों से अबाध रूप से होता आ रहा है, जिसकी घोषणा प्राय: पूज्यपाद स्वामी जी महाराज द्वारा श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी तक अथवा श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के दिन की जाती रही है; परन्तु विगत जन्माष्टमी तक भक्तों को इस वर्ष के यज्ञ सम्बन्धित सूचना प्राप्त नहीं हुयी थी, फलस्वरूप भक्तों के मन में बेचैनी बनी हुयी थी। श्री भगवान की प्रेरणा से प्रेरित होकर पाढ़ी ग्राम के भक्तों के मन में एक बृहद् यज्ञ करने की भावना भावित हुयी, जिसकी स्वीकृति हेतु स्वामी जी महाराज के समक्ष पाढ़ी के श्री वैष्णव भक्त हुलासगंज आकर अपने सङ्कल्प को स्वामी जी महाराज से निवेदित किया। स्वामी जी महाराज से स्वीकृति मिलने की सूचना सभी भक्तों को कर्णपरम्पर्या अत्यल्प कालों में प्राप्त हो गयी।

यज्ञ का स्वरूप—ग्रामीण भक्तों के भाव, यज्ञ हेतु उचित समय तथा अन्यान्य विषयों पर चिन्तन के उपरान्त स्वामी जी महाराज ने ग्राम–पाढ़ी, थाना–नवीनगर, जिला–औरङ्गाबाद में ही श्री लक्ष्मी-नारायण महायज्ञ के साथ परमाचार्य जी महाराज की जयन्ती, शिव परिवार एवं हनुमान जी की प्राण-प्रतिष्ठा का कार्यक्रम समवेत रूप से सम्पन्न कराने का निश्चय किया।

हनमत् ध्वजारोपण—व्यस्ततम कार्यक्रमों के बीच स्वामी जी महाराज ने ध्वजारोपण हेतु जनवरी के तीसरे सप्ताह में एकाएक निश्चय २६-०१-२०१४ को पाढ़ी ग्राम पहुँचने का विश्वास किया, जिसकी सूचना ग्रामीण भक्तों को प्राप्त हो गयी। वश! फिर क्या था? ग्रामीण भक्तों की श्रद्धा का जन शैलाब ऐसा उमड़ा कि श्रद्धा की गर्मी को देखकर भयानक शीतलहरी भी मुँह छिपाने हेतु विवश हो गयी। स्वामी जी का स्वागत अभूतपूर्व ढंग से हुआ। आबाल-वृद्ध-वनिता, जिसने भी सुना, अपने सभी कार्यों को छोड़कर स्वामी जी के युगल-चरण के दर्शन हेतु दौड़ पड़ा। २७-०१-२०१४ को शुभ मुहूर्त्त में हनुमत् ध्वजारोपण का कार्य शास्त्रीय विधि द्वारा सम्पन्न हुआ तथा यज्ञ हेतु अन्यान्य व्यवस्था यथा–यज्ञमण्डप, प्रवचन पण्डाल, स्वामी जी की कुटिया, अतिथियों के निवास-स्थान का आवश्यक चयनित निर्देश स्वामी जी ने भक्तों को दिया और एतदर्थ योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति उनकी कार्यक्षमता आदि को देखकर कर दिया गया।

निमार्ण-कार्य—उत्तर बिहार के कारीगरों का पर्णशाला के निर्माण में विशेष दक्षता प्राप्त है, अत: तीन तले के यज्ञशाला आदि निर्माण हेतु मुजफ्फरपुर के कारीगरों की नियुक्ति हुयी।

हरिवंश-कथा—समाज में बहुत ऐसे भक्त भी होते हैं, जो स्वतन्त्र रूप से श्रीमद्भागवत अथवा पुत्र प्राप्ति हेतु हरिवंश-कथा नहीं सुन पाते; परन्तु मन में कामना रहती है, विशेष रूप से पुत्र प्राप्ति की। ऐसे भक्तों के लिए ही सर्वजन हिताय की भावना से स्वामी जी अपने प्रत्येक यज्ञ में हरिवंश-कथा भक्तों को सुनाते हैं, जिसका परिणाम विगत वर्षों में ९०-९५ प्रतिशत तक रहा है; अत: यज्ञ में भी सन्तानेच्छुक १२ भक्तों ने हरिवंश-कथा स्वामी जी महाराज के सानिध्य में पूर्ण श्रद्धा के साथ श्रवण किया। इसी प्रकार स्वामी जी के यज्ञ का एक प्रमुख अङ्ग ज्ञान-गङ्गा प्रवाह की पूर्ति हेतु

श्रीमद्भागवत्, श्रीवाल्मीकि रामायण की कथा समयबद्ध एवं पूर्ण अनुशासन के साथ स्वामी जी महाराज ने भक्तों को सुनायी।

जलाहरण—यज्ञ स्थान से आदि गङ्गा पुनः-पुनः का प्रवाह सात किलोमीटर दूर था। मौसम भी सर्वथा प्रतिकूल रहा, फिर भी हजारों की संख्या में भक्तों ने भाग लिया ५०० सौ से ऊपर, सुसज्जित कलश को भक्तगण अपने मस्तक का मुकूट बनाकर श्रीमन्नारायण के धुन के साथ भक्ति में विभोर हो चल रहे थे। भक्तों के मस्तक पर विराजमान कलश के मध्य छोटे सरकार की शोभा तारों के बीच चन्द्रमा की भाँति सुशोभित हो रहा था। सभी भक्तों के मन में उस मनोरम दृश्य को हृदय में संजाने के भाव उमड़ रहे थे।

मुख्य-यज्ञ—पूज्यपाद स्वामी जी महाराज का नियम है कि मुख्य यज्ञ के पूर्व हरिनाम सङ्कीर्तन, श्रीमद्भागवत्, हरिवंश-कथा, वाल्मीकि रामायण आदि की कथा अपनी अमृत मय वाणी से सुना देते हैं। क्योंकि मुख्य-यज्ञ (पञ्च दिवसीय) में देश के कोने-कोने से प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वानों को बुलाकर भक्तों को ज्ञान गङ्गा में गोता लगवाते हैं। पाढ़ी यज्ञ में भी काशी, अयोध्या, वृन्दावन आदि स्थानों के विद्वानों ने अपने ज्ञान से भक्तों को लाभान्वित कराया। यज्ञ के दूसरे पक्ष को सुसम्पन्न कराने हुए स्वामी जी महाराज ने वैदिकों (वेद के ज्ञाता) को बुलवाया था। इस प्रकार पञ्चदिवसीय लक्ष्मी-नारायण महायज्ञ का कार्यक्रम अति उत्साह के साथ सम्पन्न हुआ, जिसमें मुहूर्त्तानुसार शिव परिवार एवं हनुमान जी की प्राण प्रतिष्ठा भी की गयी।

यज्ञ का मुख्य आकर्षण—ग्रामीण भक्तों में अतिशय भक्तिभाव से पूर्ण उत्साह का सञ्चार उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होना था। प्राकृतिक प्रकोप अर्थात् असमय वर्षा ने सभी को भयभीत कर दिया था; परन्तु ग्रामीण भक्तों के उत्साह के समक्ष जल जमाव जैसी जब समस्या आयी, तो भक्तों ने कुछ ही समय में जल जमाव को मुक्त कर यज्ञभूमि को ईंट से पाट दिया। यह अपने आप में अभूतपूर्व कार्य था। इसके लिए पाढ़ी तथा उस क्षेत्र की जनता शतशः धन्यवाद के अधिकारी हैं।

पाढ़ी यज्ञ में पेयजल, आवास, भोजन आदि की समुचित व्यवस्था थी, जिससे यज्ञ में पधारने वाले हर भक्तों ने सराहा। मुख्य-यज्ञ का कार्यक्रम अत्यन्त सघन था। दिन में विभिन्न विद्वानों के प्रवचन, रात्रि में सांस्कृतिक कार्यक्रम, जिसमें आकाशवाणी के कलाकार, रामलीला तथा श्रीधाम के रासलीला आदि प्रमुख रहे।

पूर्णाहुति—यज्ञ के अन्तिम दिन पूर्णाहूति होती है, जो तीन प्रकार से पूर्ण किया जाता है। तीनों प्रकार के पूर्णता को पूर्णाहुति कहते हैं। प्रथम-यज्ञ मण्डप में आवाहित देवों का वैदिक रीति से पूर्णता का हवन, आगन्तुक भक्तों को महाप्रसाद तथा सन्तों को यथोचित सम्मानपूर्ण विदायी। पाढ़ी यज्ञ उपर्युक्त कारणों से पूर्ण माना जायेगा; क्योंकि मण्डप का कार्य अत्यन्त कुशलतापूर्वक छोटे स्वामी जी के संरक्षण में सम्पन्न हुआ। महाप्रसाद (लड्डू-पुरी) की व्यवस्था पर्याप्त थी तथा ग्रामीणों द्वारा परोसन कार्य भी कुशलतापूर्वक सम्पन्न किया गया। आगन्तुक सन्त, महान्त, विद्वान् आदिकों की विदायी यथोचित रीति से की गयी।

मुख्य आकर्षण—प्रायः ऐसा देखा जाता है कि स्वामी जी के आगमन में जो उत्साह भक्तों में रहता है, उस उत्साह को विदाई रूपी गमगीन माहौल स्थिर नहीं रहने देता, जो सर्वथा स्वाभाविक है; परन्तु पाढ़ी के भक्तों ने इसके विपरीत आचरण किया, जिस उत्साह से स्वामी जी महाराज का स्वागत किया था, उसी उत्साह से दोनों आचार्यों का भक्तों ने विदाई भी किया। देखने से अनुभव हुआ कि पाढ़ी के भक्तों ने स्वामी जी के परतत्त्व विषयक उपदेश को भरपूर हृदयङ्गम करने का प्रयास ही नहीं किया बल्कि चरितार्थ भी किया है।

श्रीवैष्णवव्रत निर्णय तालिका—वर्ष : २०१४-१५

क्र.सं.	मास	पक्ष	तिथि	दिन	दिनाङ्क	व्रतनाम
१.	चैत्र	शुक्ल	११	शुक्रवार	११-४-२०१४	कामदा
२.	वैशाख	कृष्ण	११	,,	२५-४-२०१४	बरुथिनी
३.	वैशाख	शुक्ल	११	शनिवार	१०-५-२०१४	मोहिनी
४.	ज्येष्ठ	कृष्ण	१२	रविवार	२५-५-२०१४	अचला
५	ज्येष्ठ	शुक्ल	११	सोमवार	९-६-२०१४	निर्जला
६.	आषाढ़	कृष्ण	११	,,	२३-६-२०१४	योगिनी
७.	आषाढ़	शुक्ल	११	भौमवार	८-७-२०१४	श्री विष्णुशयनी
८.	श्रावण	कृष्ण	११	,,	२२-७-२०१४	कामदा
९.	श्रावण	शुक्ल	११	गुरुवार	७-८-२०१४	पुत्रदा
१०.	भाद्रपद	कृष्ण	११	,,	२१-८-२०१४	जया
११.	,,	शुक्ल	११	शुक्रवार	५-९-२०१४	पद्मा
१२.	आश्विन	कृष्ण	११	,,	२९-९-२०१४	इन्दिरा
१३.	,,	शुक्ल	१२	रविवार	५-१०-२०१४	पापाङ्कुशा
१४.	कार्त्तिक	कृष्ण	११	,,	१९-१०-२०१४	रम्भा
१५.	,,	शुक्ल	११	सोमवार	३-११-२०१४	प्रबोधिनी
१६.	अगहन	कृष्ण	११	भौमवार	१८-११-२०१४	उत्पन्ना
१७.	,,	शुक्ल	११	,,	२-१२-२०१४	मोक्षदा
१८.	पौष	कृष्ण	११	गुरुवार	१८-१२-२०१४	सफला
१९.	,,	शुक्ल	११	,,	१-१-२०१५	पुत्रदा
२०.	माघ	कृष्ण	११	शुक्रवार	१६-१-२०१५	षट्तिला
२१.	,,	शुक्ल	११	,,	३०-१-२०१५	जया
२२.	फाल्गुन	कृष्ण	११	रविवार	१५-२-२०१५	विजया
२३.	,,	शुक्ल	११	,,	१-३-२०१५	आमलकी
२४.	चैत्र	कृष्ण	११	सोमवार	१६-३-२०१५	पापमोचनी

१.	चैत्र	शुक्ल	नवमी	भौमवार	८-४-२०१४	श्रीराम नवमी व्रत
२.	वैशाख	शुक्ल	१४	मंगलवार	१३-५-२०१४	श्रीनृसिंहावतार
३.	भाद्रपद	कृष्ण	९	,,	१९-८-२०१४	श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
४.	भाद्रपद	शुक्ल	१२	शनिवार	६-९-२०१४	श्रीवामन द्वादशी
५.	वैशाख	शुक्ल	५	रविवार	४-५-२०१४	श्रीरामानुजाचार्य जयन्ती
६.	फाल्गुन	शुक्ल	१३	मंगलवार	३-३-२०१५	श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जयन्ती
७.	आश्विन	कृष्ण	८	मंगलवार	१६-९-२०१४	जीवितपुत्रिका

गृहारम्भ मुहूर्त्त

(१) वैशाख कृष्ण प्रतिपद बुधवार १९-४-२०१४ को दिन में ९:९ से ११:२२ तक
पुनः १:४१ से ३:५४ तक
(२) वैशाख कृष्ण सप्तमी सोमवार २१-४-२०१४ को रात्रि में १०:२१ से १२:२६ तक
(३) वैशाख शुक्ल एकादशी शनिवार १०-५.२०१४ को दिन में ९:५२ से १२:२ तक।

●

गृहप्रवेश मुहूर्त्त

(१) वैशाख शुक्ल एकादशी शनिवार १०-५-२०१४ को प्रातः ५:५८ से ७:३८ तक
(२) ज्येष्ठ कृष्ण एकादशी शनिवार २४-५-२०१४ को प्रातः ४:४८ से ६:४२ तक
पुनः ११:१५ से १:२८ तक
(३) ज्येष्ठ शुक्ल अष्टमी शुक्रवार ६-६-२०१४ को दिन में १०:३५ से ११:२७ तक।

●

द्विरागमन मुहूर्त्त

पूर्व से पश्चिम उत्तर से दक्षिण वायव्य से अग्नि एवं ईशान से नैर्ऋत्यकोण के लिए—
(१) वैशाख कृष्ण प्रतिपद बुधवार १६-४-२०१४ को प्रातः ७:१३ से ९:८ तक
पूर्व से पश्चिम—
(२) वैशाख कृष्ण दशमी गुरुवार २४-४-२०१४ को प्रातः ६:४२ से ८:३७ तक
उत्तर से दक्षिण वायव्य से अग्निकोण के लिए—
(३) वैशाख शुक्ल द्वितीया गुरुवार १-५-२०१४ को दिन में ९:४४ से १०:२५ तक
(दिक्शूल परिहारपूर्वक)

●